वैदिक-उपदेश

(द्वितीय भाग)

व्याख्याकार

श्री १००८ श्री स्वामी जी महाराज

श्री पीताम्बरा पीठ संस्कृत परिषद्

वनखण्डेश्वर, दतिया ।

ॐ तत्सत्

वैदिक-उपदेश

(द्वितीय भाग)

व्याख्याकार

श्री १००८ श्री स्वामी जी महाराज

श्री पीताम्बरा पीठ संस्कृत परिषद्

वनखण्डेश्वर, दतिया ।

प्रकाशक :

श्री पीताम्बरा पीठ

संस्कृत परिषद्, दतिया (म. प्र.)

प्रथमावृत्ति १९६६

मूल्य २ रु०

मुद्रक :

रामसेवक खड़ग,

स्वाधीन प्रेस, झाँसी

प्रकाशकीय

जगन्माता श्री पीताम्बरा माई के अनुग्रह से आज यह परिषद् पूज्यपाद श्री १००८ स्वामी जी के कर-कमलों से सुसंपादित "वैदिक उपदेश" द्वितीय भाग के प्रकाशन द्वारा वेद भगवान् के अर्चन हेतु प्रस्तुत है।

आशा करता हूँ कि इस प्रकाशन से भारतीय संस्कृति एवं वैदिक धर्म की श्री वृद्धि होगी।

निवेदक—

वृजनन्दन शास्त्री

मन्त्री

पीताम्बरा संस्कृत परिषद्

वनखण्डेश्वर, दतिया

१८-१०-६६

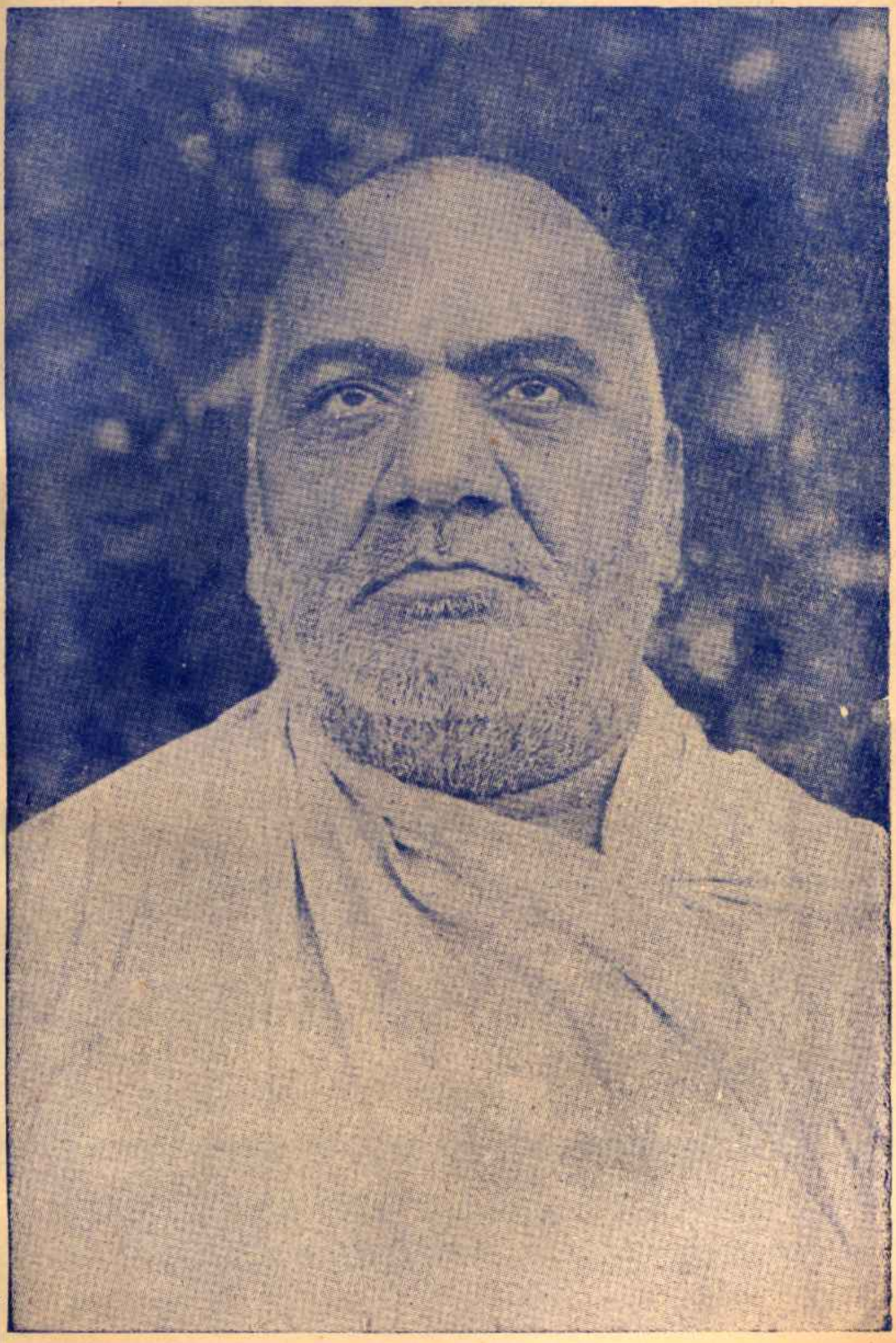

श्री १००८ पूज्य स्वामी जी महाराज वनखण्डेश्वर, दतिया

भूमिका

इस पुस्तक में वेदों की अनेक ऋचाओं की व्याख्यायें श्री १००८ स्वामी जी ने की हैं। ऐसी ऋचाओं का चयन किया गया है जिनका उपयोग न केवल इस देश की समस्याओं के हल करने में किया जा सकता है वरन हमारे देश के बाहर के लोग भी कर सकते हैं। प्रत्येक ऋचा की व्याख्या आधुनिकतम वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक ढंगों से की गई है। पहले ऋचा का शब्दार्थ दिया गया है, फिर विस्तार के साथ उसकी व्याख्या। व्याख्या ऐसी कि शब्दार्थ से बिलकुल सुसंगत। और भाषा ? भाषा में सर्वसाधारण को समझ में आने वाली पूरी सरलता है। पूज्य स्वामी जी ने ऋचा की भावना पाठक की समझ में सहज ही बिठलाने के लिये बड़े ही मनोरञ्जक उदाहरण दिये हैं। एक को उद्धृत किये बिना मन नहीं मान रहा है। वह यह है :—

पृ० २४ पर अथर्ववेद की ऋचा है और उसका शब्दार्थ—

'परब्रह्म परमात्मा ही सबसे बड़ा और सर्व शक्तिमान है। उसने ही सृष्टि के आदि में सूर्यादि प्रकाशात्मक वस्तुओं को पहले पहल बनाया। सृष्टि में सबसे पहले उसने ही ब्रह्मा को प्रकट किया। वह सबसे बड़ा है। उससे कौन प्रतिद्वन्दता कर सकता है।'

फिर इसकी व्याख्या विस्तार के साथ की गई है। इसमें एक अंग्रेज नास्तिक का उदाहरण यों आया है—'एक विद्वान ने एक यूरोपीय नास्तिक को एक बार एक मनोरंजक बात कही थी। वह नास्तिक ईश्वर तत्व के नाम से चिढ़ता था। उसने अपने घर के सब भागों में लिख रक्खा था 'नो व्हेयर गौड' (No where God) अर्थात "ईश्वर कहीं भी नहीं है।" जब उसका अन्तिम समय आया, मृत्यु शय्या पर पड़ गया, अशक्त हो गया तब उसका छोटा बच्चा जो अभी अक्षरों को ही सीख रहा था आकर उसके उक्त वाक्य को पढ़ने लगा—'नो (No) के साथ व्हेयर where के डबल्यू को मिलाकर पढ़ा तब 'नाऊ हियर गौड (Now here God) अर्थात अब ईश्वर यहाँ है। इस बच्चे के वाक्य सुनकर उस नास्तिक के मन पर बड़ा ही प्रभाव पड़ा.....।'

अपने देश में कुछ दार्शनिकों ने केवल ज्ञान को महत्ता दी है और कुछ ने केवल कर्म—कर्त्तव्य पालन—को। पृष्ठ ५२ पर यजुर्वेद की ऋचा है और उसके नीचे शब्दार्थ—

'जो विद्या एवं अविद्या को साथ साथ जानते हैं वे ही अविद्या द्वारा मृत्यु को पार करके विद्या द्वारा अमृत (मोक्ष) पद को प्राप्त करते हैं।' इसकी व्याख्या के ये शब्द, जो ५४ वें पृष्ठ पर छपे हैं बहुत ही महत्वपूर्ण हैं :—

'केवल ज्ञान या केवल कर्म की मुख्यता एकदेशीय है। मीमांसकों ने केवल कर्म को प्रधान एवं वेदान्तियों ने ज्ञान को श्रेष्ठ बताया है। कुछ समय से ज्ञान की प्रधानता का देश में

उपदेश होने से कर्ममार्ग गौण हो गया है..... .....ज्ञान रहित कर्म जो केवल योग के लिए किया जाता है वह पशुवत ही है, कार्य रहित ज्ञान केवल वाचक ज्ञान होने से निष्फल है.....'पृ० ९४ पर ऋग्वेद की ऋचा (पृ० ९२) की व्याख्या करते हुये पूज्य स्वामीजी ने इस धारणा को दृढ़ता के साथ स्थापित किया है कि आर्य लोग बाहर से नहीं आये।

१०९ वें पृष्ठ पर सामवेद की ऋचा और उसका शब्दार्थ है -- 'हे समस्त विश्व के प्रजागण, तुम सब ओज से एक साथ मिलकर रहो। मनुष्यों के लिए अतिथि के समान पूजनीय जो एक है उस दिक्पति परमात्मा को एक होकर मानो, वही सबसे पूर्व एक कारण है विजय प्राप्त करने के लिय नवीन विजयेच्छुओं को वह अकेला ही चलाता है।'

व्याख्या में इसका भाव बड़ी खूबी के साथ व्यक्त किया गया है :—'इस मन्त्र में ओज द्वारा संगठित होने का आदेश इसलिये दिया गया है कि शत्रु शक्ति पर विजय ओज द्वारा ही होती है। प्रकाश, बल, दीप्ति आदि अर्थों में ओज शब्द का प्रयोग होता है। जिस बल के उपयोग से शत्रुओं का पराभव किया जाता है, उसे ही ओज कहते हैं, और ऐसे वीर पुरुषों को ओजस्वी कहा जाता है। ऐसे ओजस्वी का सहायक ईश्वर होता है—"हिम्मते मर्दां मद्दे खुदा"। इस पर्शियन कहावत में भी उक्त बात का प्रतिपादन प्रचलित है।

पहले ही पृष्ठ की ऋचा ऋग्वेद की है। उसका शब्दार्थ—

'जिस प्रकार घर पर आये हुए अतिथि के लिये गृहस्थ अपनी भोजन आच्छादनादि की सेवाओं को उसे अर्पित करता है, उसी प्रकार अपनी उपार्जित सम्पत्ति को प्रजा को प्रदान करता है, वह प्रशंसा के योग्य याज्ञिक है। सब जीवों को भोजन कराने के पश्चात् अपना भोजन जो करता है उसे ब्रह्मयज्ञ का कर्ता कहते हैं, जिसे पंच महायज्ञ रूप से बताया गया है क्योंकि जगत की सम्पत्ति सभी के लिये है उसे एक आदमी जो दबाकर रख लेता है इसी से अनर्थ होते हैं।'

फिर व्याख्या—

'देश एवं समाज में सुख शान्ति रहे, और राष्ट्र समुन्नत हो; इस तत्त्व को इस मन्त्र में बताया गया है। सभी देशवासी जनता भोजन आच्छादन को प्राप्त करे। किसी को लौकिक चिन्ता न हो, तभी राष्ट्र की उन्नति हो सकेगी। इसी को आजकल की भाषा में समाजवाद के नाम से कहा जाता है। जिस देश में खान-पान की विषमता रहती है. एक आदमी अनेकों की सम्पत्ति अपनी चालाकी से लेकर धनी बनकर अन्याय करता है; अकाल दुर्भिक्ष की अवस्था में भी जनता का शोषण करके श्रीमान् बना रहता है वह वास्तव में प्राण-दण्ड का अधिकारी है। जो राज्य–अधिकारी धन के लोभ से ऐसे मनुष्यों की तरफदारी करके राज्य में विषमता को प्रश्रय देते हैं वे भी दण्डनीय हैं। प्रजा में यदि सामर्थ्य हो तो यह असम्भव नहीं है। सच्चे समाजवादी जब देश में

उत्पन्न होते हैं, तब यह समस्या उनके तपोबल से हल हो जाती हैं।.....जगत की सारी सम्पत्ति ईश्वर की है। उसने सभी प्राणियों के योग क्षेम के लिए बनाया है, उसे अपनी समझना या उस पर अनुचित अधिकार रखना महान् अपराध है।' इत्यादि

ये उद्धरण पुस्तक में से बिना किसी पूर्वाग्रह के उठाये गये हैं। पुस्तक भर में चेतना और प्रेरणा से भरे सम्बोधन हैं। वेदों में प्राचीन ऋषियों ने संभवत: सभी समस्याओं को छुआ है, सूत्रों में उनका समोकरण किया है। पूज्य स्वामी जी के गहन अध्ययन और व्यापक ज्ञान ने उनकी व्याख्या को आज की भाषा में बड़ी ही ताजगी के साथ रक्खा है। मानो फूलों की सुगन्धि और वृक्षों की प्रातःकालीन हरियाली को गूँथ दिया हो! गणपति की व्याख्या, समाजवाद की व्याख्या, सत्यव्यवहार की नितान्त आवश्यकता, गौ सेवा का महत्व—मुख्यत: कृषि प्रधान देश में—इत्यादि अत्यन्त प्रेरक ढङ्ग से रक्खे गये हैं। और, इन व्याख्याओं की विशेषता यह है कि किसी भी धर्म या सम्प्रदाय पर कहीं भी चोट नहीं की गई है। सबका सब एक वैज्ञानिक योगी के दृष्टिकोण का उद्भव है। सर्व साधारण के लिए बहुत लाभदायक है, और सभी उसे समझ सकते हैं।

विनीत—

वृन्दावनलाल वर्मा

वैदिक-उपदेश
(द्वितीय भाग)

मन्त्रानुक्रमणिका

मन्त्र	पृष्ठ	विषय
१–गणानांत्वा	I II III	गणतन्त्र
२–प्रजाभ्यः	१	वैदिक समाजवाद
३–सक्तुमिव	४	शब्दतत्त्व
४–वाजस्यनु	६	पृथ्वीमाता
५–सत्यंबृहत्	८	मातृभूमि
६–ऋचो अक्षरे	११	अक्षरतत्त्व
७–य आत्मदा	१३	ब्रह्मोपासना
८–यां मेधाँ	१५	मेधाप्राप्ति
९–आशुः	१७	वीरपुरुष
१०–उपश्वासय	२०	दुन्दुभि
११–दृते हँ	२२	भ्रातृत्व
१२–ब्रह्म ज्येष्ठा	२४	परमब्रह्म
१३–प्रियं मा	२६	प्रेमतत्त्व
१४–अपागूहन्न	२९	पराशक्ति
१५–द्वासुपर्णा	३१	वैदिक दर्शन
१६–देवानां भद्रा	३५	देव प्रार्थना
१७–स्थाणुरयं	३७	मन्त्रार्थज्ञान
१८–अध्यापिता	४०	गुरु पूजा

मन्त्र	पृष्ठ	विषय
१९–विद्या ह वै	४२	अनधिकारी को विद्यादान का निषेध
२०–देवीस्तिस्र	४५	शक्तितत्त्व
२१–तिस्रस्त्रेधा	४७	,,
२२–यां त्वा	५०	,,
२३–विद्यां चाविद्यां	५२	विद्या और अविद्या
२४–सम्भूतिं च	५५	सम्भूति और असम्भूति
२५–समन्या	५८	कर्म योग
२६–स्त्रिय:	६०	आदित्योपासना
२७–वोधामे	६२	अग्नि प्रार्थना
२८–विश्वे देवा	६५	ईश्वरीयवाणी
२९–त्र्यम्बकं	६८	मृत्युञ्जय
३०–इदंविष्णु	७०	विष्णु भगवान्
३१–सप्तऋषय:	७४	जीवतत्त्व
३२–यज्ञैरथर्वा	७७	वैदिक योगी
३३–अप ज्योतिषा	७९	वाणीतत्त्व
३४–यम:परो	८२	एकेश्वरवाद
३५–स्तुतामया	८४	वेदमाता
३६–इदमुच्छ्रेयो	८७	श्रेयमार्ग
३७–अग्नेनय	९०	,, ,,
३८–सुदेवोअसि	९२	सप्तसिन्धु
३९–यशो मा	९५	यशप्राप्ति

मन्त्र	पृष्ठ	विषय
४०–वृहस्पतिः	९८	देवगुरु तत्त्व
४१–वृहस्पते	१०१	,, ,,
४२–आदेवानाम्	१०४	देवमार्ग
४३–ऋतस्य	१०६	ऋतमार्ग
४४–समेतविश्वा	१०९	ओज की महिमा
४५–यस्यक्रूर	१११	स्वप्न का प्रभाव
४६–ॐ दृष्ट्वा	११३	श्रद्धा
४७–असतिसत्	११६	सत्पदार्थ
४८–त्वज्जातास्	११९	पृथ्वीतत्त्व
४९–भद्रंकर्णेभिः	१२१	शान्तिपाठ
५०–आब्रह्मन्	१२४	ब्रह्म एवं राजन्य शक्ति
५१–दोग्ध्री	१२७	राष्ट्रोन्नति
५२–निकामे	१२९	,,
५३–द्यौःशान्ति	१३१	शान्ति-प्रार्थना

प्रकरण	पृष्ठ	विषय
४०–कीर्तिवृद्धि	८३	[illegible]
४१–[illegible]	१०१	[illegible]
४२–[illegible]	१०४	[illegible]
४३–[illegible]	१०६	[illegible]
४४–[illegible]	१०७	[illegible]
४५–[illegible]	१११	[illegible]
४६–[illegible]	१११	[illegible]
४७–[illegible]	१११	[illegible]
४८–[illegible]	१११	[illegible]
४९–[illegible]	१२१	[illegible]
५०–[illegible]	१२४	[illegible]
५१–[illegible]	१२७	[illegible]
५२–[illegible]	१३६	[illegible]

गणानांत्वा गणपतिं हवामहे
प्रियाणांत्वा प्रियपतिं हवामहे ।
निधीनांत्वा निधिपतिं हवामहे वसोमम आहमजानि
गर्भधमात्वमजासि गर्भधम् ॥
(य० २३-१९)

शब्दार्थः—हे गणों के स्वामी तुम्हें हम सब आह्वान करते हैं तुम सभी प्रिय वस्तुओं के प्रिय स्वामी हो इस रूप से भी हम आपको बुलाते हैं सम्पूर्ण रत्न आदि ऐश्वर्य पदार्थों के स्वामी भी आप ही हो । मेरे आप वासस्थान के समान आश्रय दाता हो या सभी आपत्तियों से रक्षा करने से आच्छादन स्वरूप हो । इसलिये गर्भ में छिपी हुई रहस्य की बातों को आप व्यक्त करें जिससे हम उन्हें जान सकें क्योंकि आप उनके जानकार हैं ।

व्याख्या

गण शब्द संख्यावाची होने से अनेक समुदाय के समूहों का बताने वाला है सृष्टि के पहले एक अद्वैत तत्व होने से उसके लिये गण शब्द का प्रयोग नहीं हो सकता । सृष्टिकाल में अनेकता होने से उसी अर्थ में गण शब्द का प्रयोग समुचित है । मनुष्यों का समुदाय, पशुओं का समुदाय, पक्षियों का समुदाय वृक्षलतादि का समुदाय आदि गण शब्द से लिये जा सकते हैं तथापि ज्ञान प्रधान प्राणी मनुष्य है उसी का उपदेश

में अधिकार होने से मन्त्र में मनुष्य गण का ही ग्रहण है। लौकिक एवं पारमार्थिक स्वार्थ मनुष्य गणतन्त्र के द्वारा प्राप्त करे। इसीलिए मन्त्र दृष्टा ऋषि ने उपदेश दिया है। एक उक्ति इस विषय में प्रसिद्ध है—"समुदायो हि अर्थवान् तस्यैकदेशो निरर्थकः" अर्थात् समुदाय या गण ही अर्थवान् है उसका एक देश निरर्थक है। इसलिये सार्वजनिक स्वार्थ सिद्धि के लिये गणतन्त्र की योजना ही सर्वश्रेष्ठ हैं। एक व्यक्ति का स्वार्थ सार्वजनिक स्वार्थ के बराबर नहीं हो सकता इसलिए अधिक लोगों का स्वार्थ ही श्रेष्ठ है और उसका साधन गणतन्त्र है देश काल की परिस्थिति के अनुसार गणों में कई प्रकार हो सकते हैं उन सभी भेदों को यथार्थ रूप में समन्वय करके प्रजा को श्रेयमार्ग की ओर ले चलने वाला ही यथार्थ गणपति हो सकता है। गणपति को जनता ही चुन सकती है इसलिये मन्त्र में वहुवचन (हवामहे) का प्रयोग किया गया है। वह गणपति प्रियों का प्रिय होना चाहिये अपने व्यक्तिगत स्वार्थ को जनता के स्वार्थ में मिला देने वाला होना चाहिए तभी वह प्रियपति हो सकता है। पदलिप्सा एवं क्षुद्र स्वार्थ के वशीभूत यदि राष्ट्रपति होगा तो उस गणतन्त्र का पतन हो जायगा। इतिहास के देखने से यह ज्ञात होता है कि जब कभी ऐसा हुआ है तब उसका कारण उस देश के राष्ट्रपति या राजा की दुर्बलता ही इसमें प्रधान हेतु रही है। जिस गणपति के शासन में धनधान्य की समृद्धि होती है प्रजा सभी सुखों से सम्पन्न रहती है वही 'निधिपति' शब्द का अधिकारी

है। संक्षेप में इन तीनों विशेषणों से एक राष्ट्र के राष्ट्रपति में जितनी आवश्यक बातें हैं उन्हें मन्त्रदृष्टा ने बता दिया है। प्रजा की रक्षा के लिये समय-समय पर जो रहस्यमयी बातों को सोचता एवं कार्यान्वित करता है तथा प्रजा का पूर्ण विश्वासी है वही 'गणराज' है। सभी राजनैतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक बातों के अनेक ज्ञान से युक्त होने से जो लम्बोदर है। प्रजा के चारों पुरुषार्थों का साधक होने से जो चतुर्भुज है जो एकदन्त रूप एक सत्य निश्चय की निष्ठा वाला है। राष्ट्र के विध्वंसक रूप शत्रुओं को जो मूषक की तरह दबाकर रखता है वह राष्ट्रपति सबसे प्रथम पूजित होता है। भौतिक, दैविक आदि विघ्नों को लौकिक एवं शास्त्रीय उपायों के द्वारा जो नष्ट करने में समर्थ हो उसे विघ्न हर की उपाधि दी जाती है। यह मन्त्र कर्म काण्डियों ने श्री गौरीपुत्र गणेश की पूजा में लगाया है, अश्वमेध यज्ञ में इसे अश्व की स्तुति में उब्बट, महीधर भाष्यकारों ने लिखा है। तपश्चर्या से वेद मन्त्रों के अनेक अर्थ हो जाते हैं। यहां पर गणतन्त्र का अर्थ अधिक सङ्गत होने से लिखा गया है।

"नमो गणेभ्यो गणपतिभ्यश्च वो नमो नमः"

इस मन्त्र में गण एवं गणपति को नमस्कार किया गया है।

[illegible]

[illegible]

[illegible]

प्रजाभ्यः पुष्टिं विभजन्त आसते,
रयिमिव पृष्ठं प्रभवन्त मायते ।
असिन्वन्दंष्ट्रैः पितुरत्ति भोजनं यस्ता,
अकृणोः प्रथमं सास्युक्थ्यः ॥
ऋ० २-१३-१४ ।

शब्दार्थ—जिस प्रकार गृहस्थ के घर पर आये हुये अतिथि के लिये गृहस्थ अपनी भोजन आच्छादनादि की सेवाओं को उसे अर्पित करता है, इसी प्रकार अपनी उपार्जित सम्पत्ति को प्रजा को जो प्रदान करता है; वह प्रशंसा के योग्य याज्ञिक है । सब जीवों को भोजन कराने के पश्चात् अपना भोजन जो करता है उसे ब्रह्मयज्ञ का कर्त्ता कहते हैं, जिसे पंच महायज्ञ रूप से बताया गया है क्योंकि जगत् की सम्पत्ति सभी के लिये है. उसे एक आदमी जो दबाकर रख लेता है इसी से अनर्थ होते हैं ।

व्याख्या

देश एवं समाज में सुख-शान्ति रहे, और राष्ट्र समुन्नत हो; इस तत्व को इस मन्त्र में बताया गया है । सभी देश-वासी जनता भोजन आच्छादन को प्राप्त करें । किसी को

लौकिक चिन्ता न हो, तभी राष्ट्र की उन्नति हो सकेगी। इसे ही आजकल की भाषा में समाजवाद के नाम से कहा जाता है। जिस देश में खान पान की विषमता रहती है; एक आदमी अनेकों की सम्पत्ति अपनी चालाकी से लेकर धनी बनकर अन्याय करता है; अकाल दुर्भिक्ष की अवस्था में भी जनता का शोषण करके श्रीमान् बना रहता है; वह वास्तव में प्राणदण्ड का अधिकारी है। जो राज्य-अधिकारी धन के लोभ से ऐसे मनुष्यों की तरफदारी करके राज्य में विषमता को प्रश्रय देते हैं वे भी दण्डनीय हैं। प्रजा में यदि सामर्थ्य हो तो यह असम्भव नहीं है। सच्चे समाजवादी देश में जब उत्पन्न होते हैं, तब यह समस्या उनके तपोबल से हल हो जाती है। जैसे ईश्वर सृष्टि में भिन्न-भिन्न वस्तुओं को उत्पन्न करके सभी जनता को दे देता है, उसमें से अणु-मात्र भी अपने लिये नहीं रखता इसी प्रकार का समाज का नेता होना चाहिये; उसका जीवन समाज की भलाई एवं रक्षा के लिए होना चाहिये यह सब त्याग पर ही अवलम्बित है। त्याग को छोड़कर केवल समाजवाद के व्याख्यानों से यह नहीं होना है। जगत् की सारी सम्पत्ति ईश्वर की है उसने सभी प्राणियों के योग क्षेम के लिए बनाया है उसे अपनी समझना या उस पर अनुचित अधिकार रखना महान् अपराध है। "मागृधः कस्य स्विद्धनम्" इस वेद वाक्य में यही तत्व कहा गया है। गीता में अर्जुन को बताया है 'हे अर्जुन तुम जो कुछ कर रहे हो; भोजन, दान, होम, यज्ञादि तथा शुभ कर्म तपश्चर्या आदि वह सब हमारे अर्थात् ईश्वरा-

र्पण बुद्धि से करो इससे तुम बन्धन से मुक्त होकर पूर्ण सुखी होगे। यह उपदेश केवल अर्जुन के लिए ही नहीं था। अर्जुन को निमित्त बना कर सभी जीवों को दिया गया है। जिस प्रकार ईश्वर की दी हुई वस्तु जब समाज रूपी नारायण को समर्पित कर दी जाती है उसका यथाधिकार बटवारा कर दिया जाता है तब सभी लोग सुखी रहते हैं। देश के प्रधान नेतागण जो निर्लोभी, त्यागी, ब्रह्मज्ञानी हैं वे ही इस कार्य का सम्पादन कर सकते हैं। पहले पहल सृष्टि के आरम्भ में सभी जोव इस नियम का पालन करते थे। जब सृष्टि में भ्रष्टाचार का जन्म हुआ तब मनुष्य व्यवस्थापक की आवश्यकता हुई। आदि समय में ही वास्तविक समाज-वाद का पालन होता था। यह कहना भ्रम है कि समाजवाद का सिद्धान्त विदेशों से आया है। सभी प्राणियों में पशु पक्षी आदि में भी मिलकर रहने की प्रवृत्ति है। जो विशेष ज्ञानी हैं वे अपने ज्ञान द्वारा इस सिद्धान्त का आचरण करते हुए सभी जनता के आचरण शुद्ध करने का प्रयत्न करें तो यह कार्य अच्छी तरह चल सकता है।

"मुखिया मुख सो चाहिए; खान पान को एक।
पाले पोसे सकल अंग; साधन सहित विवेक॥"

—तुलसीदास

———

(५४)

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो,
यत्रधीरा मनसा वाच मक्रत ।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते,
भद्रैषां लक्ष्मीर्निहताधिवाचि ॥
(ऋ० १०-१७-२)

शब्दाथ—जैसे चलनी द्वारा सत्तू या आटे को भूसी से पृथक् करके शुद्ध करते हैं। इसी प्रकार शब्द तत्व के ज्ञानी महापुरुष मनन द्वारा वाणी को असत्य शब्दों से पृथक् करके शुद्ध करते हैं। शुद्ध वाणी द्वारा उनका व्यवहार होता है। इस अवस्था में वे वाणी के सखा या मित्र होकर रहते हैं। ऐसे महापुरुषों की वाणी में कल्याणकारी लक्ष्मी का वास रहता है।

व्याख्या

मनुष्य का परिचय बोलनें से ही होता है। जैसे शब्दों का प्रयोग मनुष्य करता है, उससे उसका परिचय होता जाता है कि यह किस कोटि का है। जिस प्रकार उत्तम, मध्यम और अधम ये तीन कोटि मनुष्यों की होती हैं। इसी प्रकार शब्दों की भी तीन कोटि होती हैं। ईश्वरोपासना, मन्त्र देवता ऋषि मुनि, राजा, महात्मा आदि उत्तम पुरुषों के बोधक शब्द उत्तम कोटि के हैं। खान-पान, खाट, लोटा आदि प्रति दिन के बोधक शब्द सामान्य कोटि के हैं। गाली-गलौज, निन्दा-चुगली आदि के जनाने वाले शब्द अधम कोटि के हैं। शब्द तत्व भगवान् की क्रिया शक्ति से पैदा होता है। उसे नाद या ध्वनि

के नाम से साधना शास्त्रों में कहा गया हैं। नाद में ईश्वरीय ज्ञान शक्ति का जब योग होता है तब शब्दों से अर्थ का ज्ञान होता है। अर्थ ज्ञान की शक्ति शब्द के अन्दर है इसे ही भाषा कहा जाता है इसके बोधक स्वर, व्यंजन दो प्रकार के वर्ण हैं, वैदिक साहित्य में ६२ या ६४ वर्ण माने गये हैं। देश के भेद से वर्णों में अनेक भेद हो गये हैं। लेटिन, जर्मन, रूसी, इंगलिश आदि योरोपीय शब्दों में तथा वर्णों में, आर्य देवनागरी अक्षरों में साम्य और भिन्नता भी है। देश भेद का प्रभाव भाषा पर बहुत पड़ता है। तथापि आर्य भाषा में सब भाषाओं से अधिक ध्वनि के अभिव्यंजक शब्द माने गये हैं। ध्वनि मात्र का बोधक एक संगीत शास्त्र स्वतन्त्र शास्त्र ही है। सत्व, रज, तमोगुणों के योग से शब्दों का योग होकर भाषा का विकास होता है। इसी में वर्णों के क्रम का नियम भी लागू होता है। जैसे न, दी शब्द का योग होकर नदी शब्द बनता है जिसे संसार के सर्व प्रथम भाषा विज्ञानवेत्ता श्री यास्क मुनि ने बताया है कि जो नाद या अव्यक्त शब्द करते हुये चलती है 'नदना भवन्ति' इसलिये उसे नदी कहते हैं। यही शब्द जब विपरीत क्रम से होता है। तब दीन शब्द बन कर करुण शब्द का बोलने वाला हो जाता है। इसी प्रकार धातु प्रत्यय शब्द (नामाख्यातोपसर्ग, निपात) के भेद से अनेक अर्थों का बताने वाला होता है। चलनी के दृष्टान्त से मन्त्र में बताया गया है कि असत्य शब्दों के त्यागपूर्वक सत्य प्रिय हित शब्दों का प्रयोग लक्ष्मी या ऐश्वर्य का प्रदान करने वाला है। ऐसे पुरुषों की वाणी में लक्ष्मी रहती है और वे सभी के हितचिन्तक होते

हैं। वास्तव में वही वाणी के मित्र हैं। व्यर्थ वाग्वाद का त्याग करने से यह सम्भव है। लौकिक भाषा में यह विषय बताया गया है। इसके अतिरिक्त ईश्वर तत्त्व के स्वरूप से व्यक्त होने वाली दैवी वाणी है। उसे दैवी भाषा कहते हैं। वेद इसी भाषा में कहे गये हैं; उनका स्वाध्याय दिव्य लक्ष्मी रूप से महात्माओं से स्वीकृत है। वेद की चर्चा इस समय संसार में फैल रही है तथापि उ का यथार्थ स्वरूप न जानने से विपरीत अर्थ किये जा रहे हैं, जैसे कि विदेशियों ने किये हैं। तप, स्वाध्याय एवं योग द्वारा ही यथार्थ अर्थ हो सकते हैं।

—:o:—

(५५)

वाजस्य नु प्रसवे मातरमहीं,
अदितिं नाम वचसा करामहे।
यस्यां इदं विश्वंभुवनमाविवेश,
तस्यांनोदेवःसविताधर्मसाविषत् ॥

(यजु० १८-३०)

शब्दार्थ—अदिति जिसका कभी भी नाश नहीं होता वही पृथ्वी माता है। अन्न, बल, ज्ञानादि के लिए वाणी द्वारा माता रूप में उसकी स्तुति हम करते हैं। समस्त विश्व उस पराशक्ति के अन्दर प्रविष्ट है; उसी की सहायता से परमात्मा हमारे सभी धर्मों का प्रेरक हो रहा है।

व्याख्या

पराशक्ति ईश्वर के साथ मिलकर जगत के जीवों के पालनार्थ अनेक रूप से परिणत हुई है। जीवों के योग क्षेम के लिये उसका परिणाम होता है उसका इसमें कोई व्यक्तिगत निजी स्वार्थ नहीं है। इससे उसको प्रसन्नता होती है इसके अतिरिक्त उसका अन्य कोई प्रयोजन नहीं है। उसे अदिति इसलिये कहते हैं कि वह अविनाशी है। आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी उसी के स्थूल स्वरूप हैं। अन्तिम पृथ्वी रूप उसका मातृ तत्व का पूर्ण परिणाम है। सभी पालन के तत्व पृथ्वी में व्यक्त हुये हैं। जैसे माता अपने बच्चे का सभी हित सर्वदा करती रहती है इसी प्रकार पृथ्वी है। इसीलिये इस मही पृथ्वी तत्त्व को माता रूप से मन्त्र में बताया गया है। मातृगीता सप्तशती में कहा है—"आधारभूता जगतस्त्वमेका मही स्वरूपेणयतः स्थितासि" ऐसी माता की भक्ति करना सभी प्राणियों का कर्त्तव्य है। जो प्राणी या जिस देश के लोग अपनी मातृ-भूमि की सेवा भक्ति नहीं करते; उसका सौभाग्य दुर्भाग्य के रूप में परिणत हो जाता है। इसीलिये वेद उसके गुणगान करने की आज्ञा देते हैं। उसी से बल बुद्धि ऐश्वर्य आदि की प्राप्ति होती है। जिन लोगों में मातृभूमि की भक्ति एवं देश प्रेम नहीं होता है; वे वास्तव में मृतक तुल्य हैं। जगत्परिणामवाद के अनुसार कार्य और कारण की एकता है। इस मत के अनुसार जगत् में कोई वस्तु नवीन नहीं है सब कुछ पहले से ही कारण में विद्यमान है। भाव से ही भाव होता है, अभाव से कोई वस्तु नहीं होती।

यदि ऐसा माना जाय तो सभी वस्तुयें सब जगह उत्पन्न होंगी। क्रिया करने की आवश्यकता नहीं होगी। हरेक वस्तु क्रिया से अभिव्यक्त होती है। रेत से भी यदि तेल हो तो सर्वत्र सब वस्तु सुलभ हो जायगी; इसलिए कारण में रही हुई वस्तु ही क्रिया से प्रकट होती है। जैसे गन्ने से मीठा रस, यह जगत-योजना संयुक्त एवं यथार्थ रूप वाली है; इसी के अनुसार मन्त्र में बताया गया है कि यह दृश्यमान विश्व उस महाशक्ति में प्रवेश किये हुये है। शिव या परमात्मा शक्ति युक्त होकर ही जगत्कार्य का नियामक हो सकता है; अन्यथा शक्ति बिना वह अशक्त कहा जाता है इसीलिए आचार्य श्री शङ्कर भगवत्पाद ने कहा है—"शिवः शक्त्यायुक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुम्" इसे ही मन्त्र में बताया गया है कि उसकी सहायता से ही ईश्वर सब कुछ कर रहा है। भारतवर्ष में यह साधना अनादि काल से चली आ रही है। इसके भूलने एवं मतवाद के जाल में फंसने से देश की अवनति हुई है। श्री जगन्माता हम लोगों को सन्मति दे जिससे इस वैदिक सिद्धान्त को जानकर कल्याण के भागी बनें।

(५६)

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षातपो ब्रह्म यज्ञः
पृथिवीं धारयन्ति।
सा नो भूतस्य भव्यस्यपत्नी,
उरूं लोकं पृथिवी नः कृणोतु॥
(अथर्व० १२-१-१

शब्दार्थ—महान् सत्य, कठोर सत्याचरण, व्रत धारण, कष्ट-सहिष्णुता, अनुभव सिद्ध ज्ञान, निःस्वार्थ कर्म पृथ्वी को धारण करते हैं। भूत और भविष्य की रक्षा करने वाली अपनी मातृभूमि हम लोगों के लिए विस्तृत लोक और विशाल क्षेत्र को करे।

व्याख्या

किसी देश या राष्ट्र के उन्नति के साधनों का ठीक-ठीक परिज्ञान एवं उसका यथार्थ आचरण ही कार्य सिद्धि को प्रदान करता है। अथर्ववेद के भूमि सूक्त का यह पहला मन्त्र है जिसमें राष्ट्र के उन्नति के सभी साधनों का संक्षिप्त रूप में निर्देश किया गया है। देश भक्त राष्ट्र के नेता एवं अधिकारियों के लिए मन्त्रोक्त सिद्धान्तों का ज्ञान बहुत ही आवश्यक है।

प्रतिदिन के व्यवहार में सत्य व्यवहार पर ध्यान रखना चाहिए; इसी द्वारा बल का प्राप्ति होती है। महान् सत्य अपने समस्त राष्ट्र के हित की अपेक्षा रखता है। विश्व प्रेम से प्रेरित होकर सत्य को ही सर्वदा व्यवहार में लाने का प्रयत्न करना चाहिये। समाज में जो लोग अव्यवस्था उपस्थित करते हैं उन्हें उग्रऋत के द्वारा शान्त करना चाहिये। इस प्रकार ऋत एवं सत्य दो प्रकार का सत्याचरण हो जाता है। (राइट एण्ड ट्रुथ) ये दो शब्द इङ्गलिश में भी माने गये हैं। सद्गुरु द्वारा निष्पाप होकर नियम धारण करना दीक्षा है। यह दीक्षा तत्व अनेक प्रकार का है। देश

भक्ति, समाजभक्ति, ईश्वरभक्ति आदि का उद्भावक दीक्षा है। जब तक मनुष्य दीक्षित नहीं होता, तब तक उसकी सारी क्रियायें निष्फल ही होती हैं। अपने लक्ष्य भूत तत्त्व की प्राप्ति के लिए जो कठिनाइयों का सहन है उसे तप कहते हैं जैसे सोनादि धातु अग्नि में तपाने से निर्मल हो जाती है। इसी प्रकार तप द्वारा मनुष्य चमकने लगता है। तपस्वी की यश कीर्ति सारे विश्व में फैल जाती है। ब्रह्म नाम सद्बुद्धि या ज्ञान का है। देश में सत् शिक्षा के प्रसार से ही यह सम्भव है। जिस बुद्धि से ब्रह्म तत्त्व का परिचय हो उसे ही ब्रह्म कहा गया है। बिना ब्रह्म ज्ञान के कोई भी लौकिक या पारमार्थिक कार्य पूर्ण रूप से नहीं सम्पन्न हो सकते। मनुष्य के कार्यों का मूल्यांकन उसकी बुद्धि से हो होता है इसीलिये उसे ब्रह्म कहा गया है। ब्रह्म शब्द का अर्थ बड़ा या महान है। संसार में जितने महान पुरुष हुये हैं, उन्होंने इसी ब्रह्म तत्त्व को प्राप्त करके महत्व प्राप्त किया है। देवपूजा, संगठन और दान ये तीन अर्थ यज्ञ शब्द के होते हैं। यज्ञ नाम परमात्मा बिष्णु का भी है। देवपूजा परमात्मा की पूजा का ही रूप है। ईश्वर की पूजा या भक्ति से अनेक आपत्तियाँ टल जाती हैं इसीलिये यह भी राष्ट्र को अत्यन्त आवश्यक है। संगठन का महत्व प्रकट ही है। इस पर अनेक बातें पूर्व के मन्त्रों में बताई जा चुकी हैं। दान सात्त्विक, राजस, तामस के भेद से तीन प्रकार है। सात्त्विक दान परलोक तथा देश हित के लिये करना चाहिये। बदले की भावना से जो दान है, उसे राजस कहते हैं। काम, क्रोध,

लोभ से प्रेरित होकर जो दिया जाता है; वह तामसी एवं अहितकर है। ये पूर्वोक्त बातों से युक्त भूत भविष्य की रक्षा करने वाली पृथ्वी माता हमारे सभी लौकिक कार्यों को विस्तृत करे। देशभक्ति के इन परमोपयोगी तत्त्वों को समझना चाहिये।

—:०:—

(५७)

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन्
देवा अधिविश्वे निषेदुः।
यस्तन्नवेद किमृचा करिष्यति य
इत्तत् विदुः तइमे समासते॥

ऋ० १-१६४

शब्दार्थ--वेद मन्त्र अविनाशी परमव्योम अक्षरतत्त्व के आश्रित हैं। जिसमें सब देवगण रहते हैं। इसलिये जो मनुष्य उसे नहीं जानता है, वह केवल मन्त्रों को पढ़ने से कृतकृत्य नहीं हो सकता। जो ज्ञानी शब्द अर्थ के तत्त्व को जानते हैं; वे ही वास्तव में तत्वज्ञ हैं।

व्याख्या

जगत् की उत्पत्ति के पहले एक अद्वैततत्त्व ही था, उसने एक से अनेक रूप धारण करने की इच्छा की तब, उसकी चिद्रूप वाली महाशक्ति ने इस कार्य में उसकी सहायता की। वह माता रूप से एवं परमतत्त्व पिता रूप वाला बना। सृष्टि में सभी पदार्थों में यह स्वरूप देखा जा रहा है। इसे कवि

कालिदास ने बताया है—'जगतः पितरौ वन्दे पार्वती परमेश्वरौ (रघुवंश)।' अनेक उपासना भेदों में इसे भिन्न भिन्न नामों से कहा गया है, तथापि तत्त्वतः कोई अन्तर नहीं है—'एकोहं बहुस्याम्' इस श्रुति से भी यह विषय समर्थित है। चिद्रूपिणी महामाया ने सत्त्व गुण से देवताओं की सृष्टि की जिनके मुख्य भेद तेंतीस माने गये हैं। उप भेद तो अनेक हैं, रजोगुण से यक्ष राक्षसादि, तमोगुण से भूत-प्रेत, पिशाच आदि की उत्पत्ति हुई। रजोगुण एवं सत्त्व, तम के मिश्रण से मनुष्य पशु-पक्षी आदि उत्पन्न हुये। इस सृष्टि का व्यवहार यथावत् चले इसमें किसी प्रकार की गड़बड़ी न हो; इसलिये शिवशक्ति योग से नाद तत्त्व या जिसे शब्द कहते हैं वह प्रकट हुआ। शब्द ब्रह्म भी अद्वैततत्त्व का ही रूपान्तर है। इन वर्णों के योग से सृष्टि तत्त्व के प्रकाशक अनेक मन्त्र प्रकट हुये जिनका अर्थ ऋषियों ने योग द्वारा जाना। ऋग्, यजुः, साम इन मन्त्रों के भेद हैं। क्रियात्मक यज्ञों में इनका अर्थ ज्ञान पूर्वक प्रयोग होता था तभी यज्ञयागादि सिद्ध होते थे। शिक्षा में कहा गया है—'जो याज्ञिक अर्थज्ञान से रहित केवल शब्दों के समुदाय रूप मन्त्रों का पाठ मात्र ही जानता है उसका प्रयोग वैसा ही है—जैसे बिना अग्नि के काष्टों पर होम करना' अर्थात् प्रत्येक कर्म में मन्त्र के साथ साथ अर्थ ज्ञान परमावश्यक है। जो अर्थ ज्ञान पूर्वक व्यवहार करते हैं, वही अमृत तत्त्व के अधिकारी हैं। इसी प्रकार राष्ट्रयज्ञ के व्यवस्थापक नेतागण केवल शब्दों का ही व्याख्यानों में प्रदर्शन करते हैं, आचरण या अर्थ ज्ञान से शून्य हैं उनका भी वह सब व्याख्यान व्यर्थ ही है। आचरण

हीन केवल शब्द मात्र का व्यवहार आत्म बंचना मात्र है। 'पर उपदेश कुशल बहुतेरे' वाली उक्ति ऐसे ही लोगों के लिये कही गयी है।

—:०:—

(५८)

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व,
उपासते प्रशिषयस्य देवाः ।
यस्यछायामृतं यस्यमृत्युः,
कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

यजु २५–३२

शब्दार्थ—जो आत्मा के स्वरूप को बताने वाला तथा शक्ति को देने वाला है। सारा संसार जिसकी आराधना कर रहा है। देवता भी जिसकी उपासना करते हैं और उसकी आज्ञा के अधीन होकर कार्य कर रहे हैं। जिसकी छाया (आश्रय) अमृत है। जिससे विमुख होना मृत्यु है। ऐसे सुख स्वरूप परमात्मा की शरण रूपी हविष्य द्वारा हम सब पूजा करें।

व्याख्या

पूर्व के मन्त्रों में चिद्रूपिणी शक्ति और परमात्मा के स्वरूप का संकेत बताया गया। उसी से विश्व को उत्पत्ति हुई है, यह भी कहा गया। उपनिषद् ग्रन्थों में इसे इस प्रकार बताया है जैसे अग्नि से चिनगारियां उत्पन्न होती हैं; छोटे-छोटे कण अग्नि से पृथक् दिखते हैं। इसी प्रकार शिव शक्ति योग

से नाना प्रकार के जड़ चेतन रूप कणों की अभिव्यक्ति हुई; उसी से जड़ चेतन सृष्टि हुई। अचेतना में चेतना का आभास पड़ा; उसी से सृष्टि व्यवस्था बनी। चेतना का विकास देवता यक्ष किन्नर मनुष्य पशु पक्षी आदि हुये। जडांश से लक लोकान्तर, आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं पृथ्वी आदि उत्पन्न हुये। सत्व, रज, तम, इन गुणों से लोक लोकान्तर एवं देवता मनुष्य आदि में ज्ञान का तारतम्य होने से भेद हुआ। जगत कार्य रूप का संचालक एक अद्वैत तत्त्व रूप ब्रह्म है। उसी का इस पर पूर्ण शासन है। उसे ही परमतत्त्व रूप से योगियों ने बताया है, उसे ही मन्त्र में कहा गया है, जो परमात्मा आत्मदा है। जिसके जानने पर ही आत्मा के स्वरूप का परिचय होता है, अनेक हीन कार्यों में संलग्न रहने से जीवात्मा अल्पज्ञ एवं अल्प सामर्थ्य वाला हो गया है। उसकी सहायता से ही बलवान बन सकता है, सारा विश्व उसी की उपासना कर रहा है। यदि वृष्टि, गर्मी आदि न हो; तो मनुष्य का लौकिक व्यवहार का कार्य नहीं हो सकता। समष्टि रूप जगत्कार्य उसी की प्रेरणा से चल रहा है ब्रह्मा, विष्णु, शिव, इन्द्र, बृहस्पति, वरुण आदि देवता भी उसी की आज्ञा में सृष्टि कार्य चलाते हैं। उसका आश्रय (छाया) ही अमृत है। उसकी उपासना या भक्ति हीं जनन मरण रूप दुःखों से छुटकारा प्रदान करती है, जो इस संसार में आकर उसे सद्गुरु की कृपा द्वारा जानने से वंचित रहते हैं; उन्हें मृत्यु के चक्कर में रहना पड़ता है। राग, द्वेष आसक्ति एवं नास्तिकता ही मनुष्य को भ्रांति में डाले हुए हैं। अज्ञान वश मनुष्य इनसे

छुटकारा नहीं पाता है इसलिए यह वैदिक उपदेश है कि उसी सुख स्वरूप ब्रह्म की शरण में जाकर हम अन्तरिक हविष्य रूप पूजा द्रव्यों से उसकी पूजा करें। जो कुछ भी कार्य करें सब उसी के समर्पण होना चाहिए, इसे ही शरणागति भक्ति कहते हैं। बिना इस बात के आये मनुष्य का कार्य पूर्ण नहीं हो सकता।

(५६)

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते।
तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा॥

(य० अ० ३२-१४)

शब्दार्थ—हे अग्नि रूप से प्रकाशमान परमात्मन्! जिस मेधा रूप बुद्धि की देवता एवं पितर लोग उपासना करते हैं उससे हे प्रभो हमें मेधावी करिये। स्वाहा सुन्दर कथन भाषणादि या सर्वस्व समर्पण हो।

व्याख्या

यह मेधा प्राप्ति का मन्त्र है। मेधा बुद्धि का एक भेद है। परमात्मा को ज्ञान शक्ति प्रकृति तत्त्व के शुद्ध सात्विक परिणाम के साथ जब प्रकट होती है, तब उसे बुद्धि कहा जाता है। यह बुद्धि तत्व शुद्ध एवं अशुद्ध के भेद से दो प्रकार का है। ईश्वर की बुद्धि शुद्ध है उसी से वह जगद्रचना का संचालन यथार्थ रूप में कर रहा है। वह पूर्ण सत्य है। इसलिए उसमें भ्रम प्रमाद अज्ञता नहीं है। सारा संसार बुद्धि पूर्वक चल रहा है, बहुत से तार्किक ईश्वर के कार्य में

त्रुटि निकालते हैं; तथापि वास्तविक ज्ञान उन्हें नहीं है उनकी बुद्धि दोषयुक्त है। इसीलिए उन्हें ऐसा लगता है। क्योंकि मानव बुद्धि अविद्या के अधीन है इसीलिए उसे अशुद्ध कहते हैं। ईश्वर को बुद्धि का सहारा लेने पर ही मनुष्य वास्तविक बुद्धिमान हो सकता है। मन्त्र में इसीलिये प्रार्थना की गई है कि हे परमात्मन् आप हमें अपनी मेधा दीजिए। मेधा का अर्थ यास्क मुनि ने इस प्रकार किया है—"मेधावी कस्मान् मेधयातद्वान् भवति मेधा मतौ धीयते" अर्थात् मेधायुक्त ही मेधावी' होता है और बुद्धि में पुरुष शक्ति की अभिव्यक्ति ही मेधा हे। गीता में कहा है—'मेधावी छिन्न संशयः' संशय विपर्यय दोषों से रहित बुद्धि ही मेधा है। वह जिसे प्राप्त है वह मेधावी है। जब तक मनुष्य को यह बुद्धि नहीं मिलती तब तक अज्ञान का आवरण रहता ही है। लौकिक कार्यों में इस प्रकार कहा गया है—

"बुद्धिस्तात्कालिकीज्ञेया मतिरागामि गोचरा।
प्रज्ञा नव नमोन्मेष शालिनी प्रतिभा मता॥"

अर्थात् जो बुद्धि तत्काल में ही समाधान करने वाली है उसे मति कहते हैं। आगामी आने वाले विषयों को जो निर्णय करती है उसे प्रज्ञा कहते हैं। नव नव उन्मेष विकास शक्ति बुद्धि प्रतिभा कहाती है। ये तीनों प्रकार मेधा से ही अपना विकास करते हैं अर्थात् मेधा को प्राप्ति पर बुद्धि के सभी प्रकार मिल जाते हैं। सरस्वती वाग्वादिनी रूप से तन्त्रशास्त्र में इसी तत्व के आराधन का निर्देश किया गया है। मन्त्र में अग्नि रूप से प्राथना करने का अभिप्राय ज्ञान

प्राप्ति या मेधा प्राप्ति में संगत है । स्वाहा का अर्थ सुन्दर वाग् व्यवहार सु+ आहेति स्वाहा या स्व का त्याग करने से ही मेधा मिलती है । जो सृष्टि कार्य के संचालक देवतागण इन्द्र, वरुण, बृहस्पति आदि हैं वह भी अपना अपना कार्य मेधा द्वारा ही करते हैं । जगत् के उत्पादक पितृशक्ति वाले पितर भी इसी से कार्य चलाते हैं । संसार में बुद्धि ही सबसे अधिक मूल्यवान वस्तु है यह जिसे प्राप्त हो गई उसे सब कुछ मिल गया । "बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणफल हेतवः" इसे गीता में स्वीकार किया है ।

—:०:—

(६०)

आशुः शिशानो वृषभो न भीमो
घनाघनः क्षोभणश्चर्षणीनाम् ।
संक्रन्दनोऽनिमिष एकवीरः शतं
सेना अजयत् साकमिन्द्रः ॥
(ऋ० ८-५-२२-१)

शब्दार्थ—उस वीर पुरुष की हम सब स्तुति करते हैं, जो तीव्र गति वाला है । अपने हथियारों को जो तीक्ष्ण किये हुये है, जो पुष्ट योद्धा है, शत्रुओं को जो भय उत्पन्न करने वाला है । 'मारो मारो' ऐसा भयानक शत्रुओं को क्षोभ करने वाले शब्दों को जो बोलता है, शत्रुओं को जो ललकारता हुआ चलता है । सदैव अपने विजय का विश्वासी ऐसा ऐश्वर्यवान

वीर सैकड़ों सेनाओं को जीत लेता है। ऐसा पुरुष एक वीर संज्ञावाला है।

व्याख्या

संसार में सदैव शान्ति का उपदेश देने वाले अध्यात्मवेत्ता महात्माओं ने मनुष्यों में प्रेम भाव रहे इस विषय का प्रयत्न सदा से ही किया है। यह प्रयत्न उनका स्तुत्य है तथापि युद्ध का अभाव कभी भी नहीं हुआ है बराबर देवासुर संग्राम होता ही रहा है। अभिमानी अहंकारी लोग सदैव उक्त उपदेश की उपेक्षा करते रहे हैं—'उपदेशो हि मूर्खाणां प्रकोपाय न शान्तये" मूर्खों को सद् उपदेश प्रकोप (उग्रता) को बढ़ाता है इसलिए मंत्र में वीर धर्म का उपदेश दिया गया है क्योंकि क्रान्ति शान्ति का पूर्वरूप है। इस मन्त्र में वीर पुरुष के लक्षणों को स्पष्ट रूप मे बताया गया है। एक वीर को कैसे वीरता का पालन करना चाहिए उसके सभी लक्षणों को यथार्थ रूप में बताया है। इस वीर धर्म के प्रतिपक्षी जैन बौद्ध धर्मों ने बहुत प्रयत्न किया है तथापि उन्हें इस कार्य में अभी तक सफलता नहीं मिल सकी है न सारा संसार अहिंसक ही हो सका है। युद्ध कार्य बराबर चलता ही रहा है प्रत्युत अहिंसा रूपी महाधर्म कायरता का पर्याय हो गया है। इसी कायरता को हटाने के लिए भगवान श्रीकृष्ण ने श्रीमद् भगवद् गीता का उपदेश देकर संसार के सामने युद्ध धर्म को प्रमुखता दी है। यह युद्ध कार्य आध्यात्मिक एवं भौतिक दोनों प्रकार का है दोनों रूपों में शत्रु का वध आवश्यक है यही तत्व शक्ति

साधना का है जो कि वीरों एवं साधकों में सनातन काल से चला आ रहा है। इसी भाव को मन्त्र द्रष्टा बताते हैं—आलस्य सभी प्रकार के दोषों का आश्रय है। योद्धाओं के लिये तो यह महान दोष है इसकी निवृति के लिये आशु शब्द का प्रयोग पहले पहल किया गया है। अस्त्रों की तीव्रता नित्य के अभ्यास से होती है जो अपने हथियारों को तैयार रखता है वही वीर विजय का अधिकारी होता है जो वृषभ के समान निर्भीक है। शत्रुओं के उत्साह को (घनाघनः) मारो मारो ऐसे शब्दों को बोलकर निरुत्साह करता है। उनके मन के उत्साहित भावों को जो क्षीण करता है शत्रुओं के अभिलाषित मनोरथों को जो आक्रन्दन कर देता है उसे ही विजय लक्ष्मी अपनाती है। उसकी विजय में कोई सन्देह नहीं वही वीरेन्द्र है। वह जिधर दृष्टि करता है, उधर ही विरोधियों का सफाया हो जाता है। विजय उसके कर-तल में रहती है। संक्षेप में वीरता एवं युद्ध का स्वरूप वैदिक सिद्धान्तानुसार बनाया गया। इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं समझना चाहिए कि दुर्बलों को जो बलवान दबाने का प्रयत्न करते रहते हैं, उसका समर्थन वेद मन्त्र से होता है। केवल धर्म पूर्वक अपने राष्ट्र सम्पत्ति को बचाने में ही युद्ध का उपदेश है, आतङ्क पैदा करने में नहीं।

—:०:—

(६१)

उपश्वासय पृथिवीमुतद्यां पुरुत्रा ते मनुतां विष्ठितं जगत् ।
सदुन्दुभे सजूरिन्द्रेण देवैर्दूराद्दवीयो अपसेधशत्रून् ॥

ऋ० स ४-७-३५-४

शब्दार्थ—हे दुन्दुभि तुम अपने घोष को पृथ्वी से लेकर आकाश तक पूर्ण कर दो। तुम एक होते हुए भी अनेकों के समान हो। तुम्हारे इस घोष से परस्पर सैनिकों में प्रीति हो और शत्रुगण पलायित (भग जांय) हों और हम लोगों पर पुनः आक्रमण करने में असमर्थ हो जाय।

व्याख्या

दुन्दुभि या रणभेरी उस वाद्य को कहते हैं जिससे युद्ध की प्रेरणा वीरों को प्राप्त होती है। कडखे के गीत भी इसे ही बताते हैं। वीरभूमि राजस्थान एवं बुन्देलखण्ड में ऐसे गीत अभी भी सुनने को मिलते हैं। बुन्देलखण्ड का आल्हा काव्यवीर छन्द में कहा गया है जिसे सभी लोग जानते हैं। देश के अन्य भागों में भी ऐसे गीत प्रचलित हैं। इनमें अतिशयोक्ति होती है। तथापि वीर भाव के अभिव्यक्ति में ही उसका तात्पर्य है उसे दोष नहीं कह सकते। वीर भाव को व्यक्त करने में अन्य उपायों का भी उपयोग होता है खान पान के द्वारा उसे व्यवहार किया जाता है। इन सभी बातों को लक्ष्य करके मन्त्र में दुन्दुभि शब्द का उपयोग किया गया है। निरुक्त वृत्तिकार का मत है कि दुन्दुभि पद से शब्द मात्र का व्यवहार मन्त्र में माना गया है वह शब्द वाद्य

का हो या मनुष्य का सभी का ग्रहण समझना चाहिये। रणभेरी जब बजती है और उसकी गूंज आकाश मण्डल में भर जाती है तब वीरों को एक विलक्षण भाव की अभिव्यक्ति होती है जिससे शूरवीर युद्ध में उछल पड़ते हैं। देश की रक्षा में इसका महत्व पूर्ण स्थान है। आजकल समय के परिवर्तन से वाद्य एवं गीतों में परिवर्तन हो गया है। आजकल सैनिक विभाग में बैण्ड आदि बाजे एवं वीरता के जगाने वाली ट्यूनों से भी उक्त कार्य का सम्पादन होता है तथापि ये प्रकार मूल सिद्धान्त से पृथक नहीं हैं इनमें विदेशी सिद्धांतों का समावेश कर दिया गया है। गीत एवं बाजों के द्वारा मनुष्य के अन्दर रहे हुये वीर भावों की अभिव्यक्ति का यह सिद्धान्त वैदिक काल से ही चला आ रहा है। संसार में अनेक चढ़ाव उतार का समय आता रहा है और युद्ध का प्रसंग भी सामने आता रहा है, आगे भी यह प्रसंग न आने की कोई आशा नहीं है। इसलिये युद्ध के गानों एवं बाजों की उपयोगिता सदैव बनी रहेगी।

धन्य वे वीर हैं जो धर्म और राष्ट्र के लिये अपने प्राणों का त्याग करके वीर गति को प्राप्त करते हैं। महर्षि व्यास ने बताया है कि इस संसार में सूर्य मण्डल को भेद कर दो ही पुरुष ब्रह्म लोक को जाते हैं। पहला योग युक्त परिब्राट (सन्यासी) और दूसरा रण में धर्म युद्ध द्वारा जो अपने प्राणों को त्यागता है।

—: • :—

(६२)

दृते दृँह मा मित्रस्य मा चक्षुषा
सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम् ।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि
समीक्षे मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥
(य० अ० ३६ म० १८)

शब्दार्थ—परमात्मन् मुझे दृढ़ करिये सभी प्राणी मुझे मित्र की दृष्टि से देखें और मैं भी सभी प्राणियों को मित्र को दृष्टि से देखूँ और हम सभी लोग मित्र को दृष्टि से सबको देखें ।

व्याख्या

बिना प्रयोजन के ही जो प्राणियों का हित करता है वह परमात्मा ही इस संसार में एक वास्तविक मित्र या सखा है । इसे—"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया" इस मन्त्र में वेद ने बताया है । इसीलिये मन्त्र में मित्र भाव की प्राप्ति के लिये उससे प्रार्थना की गई है । श्रीराम एवं सुग्रीव की मित्रता को लक्ष्य करके किष्किन्धा काण्ड में श्री तुलसीदास जी ने इस मैत्री प्रसङ्ग पर अनेक उपयुक्त बातें लिखी हैं । उन्हें पाठकों को अवश्य मनन करना चाहिये । बिना लौकिक स्वार्थ की अपेक्षा रखते हुये स्वाभाविक प्रेम से जो परस्पर व्यवहार किया जाता है उसे ही मैत्री कहते हैं । ब्रह्मनिष्ठ महात्माओं का व्यवहार ऐसा ही होता है । ब्रह्मनिष्ठ राग द्वेष से रहित परमात्मा की ही तरह सब जीवों की भलाई करते हैं ।

इसलिये वे भी वास्तविक मित्र की ही कोटि में आते हैं। मित्र की दृष्टि से ही संसार के कार्य यथार्थ रूप में हो सकते हैं। बिना मित्र के कोई भी सांसारिक कार्य पूर्ण नहीं हो सकता। इसलिये इस आवश्यकता को मन्त्र दृष्टा ऋषि ने बताया है। हम सबको मित्र की दृष्टि से देखें तथा सब हमें मित्र समझें और हम सब मित्र की दृष्टि से ही देखें। ये तीन प्रकार से मैत्री का व्यवहार बताया गया है। हम मित्र की दृष्टि से लोगों को देखें परन्तु अन्य लोग हमें मित्र की दृष्टि से न देखें तो मैत्री नहीं हो सकती। अन्य लोग हमें मित्र समझें, परन्तु हम उन्हें मित्र न समझें तो भी मैत्री कार्य नहीं हो सकता।

एक राष्ट्र अपने स्वार्थ के रक्षार्थ दूसरे राष्ट्र से मित्रता करता है। यदि उसके स्वार्थ में न्यूनता हो तो वह मैत्री नष्ट हो जायगी। इसलिये परस्पर स्वार्थ की अपेक्षा का ध्यान दोनों देशों को रखना चाहिये। तभी इस प्रकार की मित्रता का परिणाम सफल हो सकेगा। जो लोग सर्वत्र अपने स्वार्थ का ही उद्देश्य रखकर मित्रता करते हैं, उन्हें मित्र नहीं कहा जा सकता। वे वास्तव में वञ्चक हैं, उनका स्वरूप संसार में बहुत समय तक छिपा नहीं रह सकता—"उघरहिं अन्त न होइ निबाहू।" मनुष्य स्वभावतः स्वार्थी है। इसीलिये अन्य के स्वार्थों की अपेक्षा रखते हुये ही स्वार्थ सिद्धि हो सकती है। निपट स्वार्थ नहीं चल सकता। वेद के अनेक मन्त्रों में सूर्य को भी मित्र नाम से कहा गया है। सूर्य भी अपना सुखद प्रकाश देकर सभी प्राणियों के नेत्रों में देखने की शक्ति प्रदान करके स्वस्व कार्य करने का सामर्थ्य प्रदान करता है। इसलिये

वह भी मित्र है। संसार में सुख या शान्ति रहे। सभी जीव सुखी हों। इस कार्य में मित्र दृष्टि सबसे श्रेष्ठ स्थान रखती है। इस एक ही उपदेश पर चलने का मनुष्य अपना लक्ष्य बना ले तो संसार को स्वर्ग तुल्य होने में देर नहीं लगेगी।

---

(६३)

ब्रह्म ज्येष्ठा संभृता वीर्याणि
ब्रह्माग्रे ज्येष्ठ दिवमाततान।
भूतानां ब्रह्मा प्रथमोत जज्ञे
तेनार्हति ब्रह्मणास्पर्धितुं कः॥
(अथर्व० १९-२२-२१)

शब्दार्थ—परमब्रह्म परमात्मा ही सबसे बड़ा और सर्व शक्तिमान है। उसने ही सृष्टि के आदि में सूर्यादि प्रकाशात्मक वस्तुओं को पहले पहल बनाया। सृष्टि में सबसे पहले उसने ही ब्रह्मा को प्रकट किया। वह सबसे बड़ा है; उससे कौन प्रतिद्वन्द्वता कर सकता है।

व्याख्या

परमाणुवाद प्रकृतिवाद एवं मायावाद के अनुसार सृष्टि परमाणु प्रकृति एवं माया से उत्पन्न होती है। ये तीनों तत्त्व जड़ कोटि में माने जाते हैं, इनमें स्वयं किसी कार्य के करने का सामर्थ्य नहीं है। इसलिये इनसे भिन्न सर्व सामर्थ्य युक्त ईश्वर तत्त्व को माना गया है, जो कि चेतन है। बिना

चेतन के बुद्धिपूर्वक कार्य इन तत्त्वों से नहीं हो सकते। परमाणुवाद के अनुसार पार्थिव जलीय, आग्नेय, और वायवीय परमाणुओं का योग बुद्धिपूर्वक होकर अनेक पदार्थों की सृष्टि जो हो रही है, मनुष्य उनका व्यवहार कर रहा है; तथा अपने जीवनोपयोगी कार्य चला रहा है। यह सब कार्य बुद्धिपूर्वक ही हैं। ऐसा ही प्रकृति एवं मायावाद का सिद्धांत भी इस विषय मैं मिलता जुलता है। इसी के अनुसार मन्त्र में कहा गया है; कि सर्वशक्तिमान एवं आदि सृष्टिकर्ता ब्रह्म ही है। काल तत्त्व से सूर्य चन्द्र आदि ग्रहों द्वारा क्रिया सिद्धि का हेतु भी वही है। ब्रह्मा को उत्पन्न करके स्थूल सृष्टि का कार्य उसी ने किया है। ऐसे परमात्मा के साथ कोई भी स्पर्धा करने में समर्थ नहीं हो सकता। पुराण इतिहास ग्रन्थों में बहुत से असुरों ने उसके साथ स्पर्धा किया है तथापि उन्हें अन्त में परास्त होना पड़ा है। इसे स्पष्ट रूप में लिखा गया है इसे विज्ञ लोग जानते ही हैं। प्राग्ज्योतिषपुर का रहने वाला मिथ्या वासुदेव जो कि विष्णु के चतुर्भुजो रूप का अनुकरण करने में दो हाथ लकड़ी का लगाकर चतुर्भुज का रूप बनाया था; जिससे उसे लोग विष्णु समझें। अन्त में उसे श्रीकृष्ण जी ने परास्त किया था। बड़े-बड़े नास्तिक अन्त में ईश्वर तत्त्व का विरोध करते हुये समाप्त हो गये; परन्तु उसकी सत्ता में अणुमात्र भी अन्तर नहीं आया। भारतवर्ष से भिन्न अन्य देशों में भी ऐसे लोग हुये हैं। एक विद्वान ने एक यूरोपीय नास्तिक की एक बार एक मनोरन्जक बात कही थी। वह नास्तिक ईश्वर

तत्त्व के नाम से चिढ़ता था। उसने अपने घर में सब गृह के भागों में लिख रखा था। नो व्हेयर गॉड (No where god) अर्थात् "ईश्वर कहीं भी नहीं है।" जब उसका अन्तिम समय आया, मृत्युशय्या पर वह पड़ गया, अशक्त हो गया तब उसका छोटा बच्चा जो अभी अक्षरों को ही सीख रहा था आकर उसके उक्त वाक्य को पढ़ने लगा नो (No) के साथ Where व्हेयर के डब्ल्यू को मिलाकर पढ़ा तब "नाउ हियर गॉड" (Now here god) अर्थात् अब ईश्वर यहां है। इस बच्चे के वाक्य सुनकर उस नास्तिक के मन पर बड़ा ही प्रभाव पड़ा कि जिस ईश्वर को मैं नहीं मानता उसका विरोध बराबर करता था आज उसने मुझे गिरा दिया; और मेरे कमरे में आ पहुंचा। इसीलिये मन्त्रदृष्टा ने ठीक ही बतलाया है कि ईश्वर के साथ कौन प्रतिद्वन्द्वता कर सकता है अर्थात् कोई नहीं। उसकी आज्ञा में रहने से ही हम लोगों की भलाई है।

---

(६४)

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये॥

(ऋ १०-१२८ खिल काण्ड)

शब्दार्थ—हे भगवन् देवताओं का प्रिय मुझे करो; राजाओं में मुझे प्रिय करो; सबको देखते हुये, चाहे आर्य हो या शूद्र सभी प्राणियों का मैं प्रिय हो जाऊँ।

व्याख्या

प्रिय या प्रेम तत्व ही इस संसार में सार है। जिसे पूर्व के मन्त्र में ब्रह्म कहा गया है; वही प्रेम के नाम से इस मन्त्र में बताया गया है। संसार के सभी धर्मों में यह वैदिक सिद्धान्त स्वीकार किया गया है। ईसाई धर्म का यह वाक्य प्रसिद्ध ही है—"God is love" "प्रेम ही ईश्वर है।" हरेक प्राणी को ईश्वर का स्वरूप समझकर प्रेम करना उसकी यथोचित सेवा करना ही ईसा ने बताया है। बौद्ध, जैन, इस्लाम आदि धर्मों में भी इसकी मान्यता स्वीकार की गई है। ईरान के सूफियों का प्रेम सिद्धान्त भारतवर्ष से ही गया था। ग्रीक में भी यह तत्व माना गया है।' रिपब्लिक ऑफ प्लेटो' में प्रेम का सिद्धान्त सुकरात और प्लेटो के संवाद रूप में कहा गया है। ऐसा कोई भी संसार का जीव नहीं है जो प्रेम का भिखारी न हो। वृहदारण्य कोपनिषद के मैत्रेयी ब्राह्मण में महर्षि याज्ञवल्क्य ने अपनी पत्नी मैत्रेयी को प्रेमतत्व की व्याख्या करके समझाया है। यह सारा ब्राह्मण इसी मन्त्र का निरूपण है। "आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति" अर्थात् प्रिय वस्तु इस संसार में आत्मा ही है। इसी की प्रियता के लिए सब वस्तु प्रिय है। पंचदशी ग्रन्थ आनन्द प्रकरण में यह विषय विस्तार से कहा गया है! प्रेम तत्व के तीन प्रकार बताये गये हैं आत्मा, ईश्वर, पूज्य माता, पिता, गुरु, आचार्य के विषय में जो प्रेम है उसे भक्ति कहते हैं। बराबर वालों में प्रेम मैत्री के नाम से व्यवहृत होता

है। छोटों में करुणा दया के नाम से कहा जाता है। इसके निरूपण में स्वतन्त्र वैष्णव धर्म का भागवत सिद्धान्त ही बनाया गया है। प्रेम तत्व के साङ्गोपाङ्ग निरूपण के लिए भागवत पुराण एक अपूर्व ग्रन्थ है प्रेम सम्बन्धी सभी सिद्धांत इसमें आ गये हैं। संक्षेप में नारद भक्ति सूत्र एव शाण्डिल्य सूत्र में दार्शनिक रूप इसे दिया गया है। ये दोनों ग्रन्थ भागवत के पश्चात् बने हैं। हिन्दी भाषा के बृज साहित्य में यह सिद्धान्त पराकाष्ठा पर पहुंचा दिया गया है। यह भक्ति तत्व शैव, शाक्त गणेश आदि सिद्धान्तों में भी आया है। तथापि वह भक्ति मर्यादाभक्ति है प्रेमा नहीं है। ज्ञान के साथ मिली हुई है। अर्थात् ससार का कोई भी धर्म इससे खाली नहीं है। इन सभी फैले हुए धर्मों का संक्षेप मन्त्र द्रष्टा ने बता दिया है।

मुझे देवताओं का प्रिय बनाओ। देव शब्द ईश्वरीय कार्य संचालक शक्तियों का वाचक है। देव शब्द सिद्धान्तों के अर्थ में भी आता है। देवताओं की प्रियता से अभ्युदय नामक धर्म को वृद्धि होती है। राजकीय प्रियता लौकिक उन्नति का कारण है जिससे योग क्षेम की रक्षा होती है। आर्य से लेकर शूद्र पर्यन्त सभी जगत के जीवों में हमारा प्रेम हो अर्थात् सभी जीवों में भेद भाव रहित प्रेम हो। यह सिद्धांत मोक्ष धर्म का समर्थक है क्योंकि राग द्वेष से भेद बुद्धि होती है। सभी संसार ब्रह्म का स्वरूप है। ऐसा जान लेने पर वास्तविक प्रेम प्रकट होता है। यह स्मरण रखना

चाहिए कि किसी भी लौकिक कामना से प्रेरित होकर प्रेम का प्रदर्शन वास्तविक प्रेम नहीं है।

"जाको कछू न चाहिए, तुम सन सहज सनेह।
बसहु निरन्तर तासु उर, सो राउर निज गेह॥"

(६५)

अपागूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः
कृत्वा सवर्णामदधुर्विवस्वते।
उत्ताश्विनावभरद् यत् तदासीद्
जहादुद्वा मिथुना सरण्यूः॥

(ऋ० १०-१७-२)

शब्दार्थः—मनुष्यों के लिये उस अमृत स्वरूपवाली पराशक्ति के स्वरूप को छिपा लिया गया है और सुन्दर वर्ण कान्ति से युक्त, उस महाशक्ति को तेजस्वी साधकों को ही प्रदान किया गया है। परब्रह्म एवं पराशक्ति के योग से जगत का मिथुन रूप जोड़ा पैदा हुआ जो कि दोनों एक ही हैं। जिन्हें उसने अपने अन्दर से प्रकट किया व्यष्टि स्त्री पुरुष हैं द्यौ और पृथ्वी समष्टि है।

व्याख्या

जगत की उत्पत्ति का रहस्य इस मन्त्र में बताया गया है। देवता, साधकों की एक कोटि तथा मनुष्यों की दूसरी श्रेणी है। देवता एवं सिद्ध लोग परम तत्त्व को यथार्थ रूप

में अनुभव करते हैं। मनुष्य यथार्थता से रहित है इसलिये उसे ठीक नहीं जानता है। इसका कारण ज्ञानियों ने योग से जाना उसे माया नाम दिया है; सत्य को विपरीत रूप में बताने वाला तत्त्व माया कहा गया है। यह परा अमृत शक्ति जिसे मन्त्र में बताया गया है उसी की शक्ति माया है: जिसने जगत के भेदों को प्रकट किया है। मूल में एक अद्वैत ही तत्त्व है। उसकी लीला की इच्छा से दो रूप हुये जिसे युग्म या मिथुन नाम से मन्त्र में कहा है। द्यौ और पृथ्वी उसका समष्टि रूप है; सभी पुरुष और स्त्री व्यष्टि हैं। यह विभाग जगत के हरेक तत्त्व में है। इसलिये तत्त्वज्ञानियों ने सारे जगत को शिव शक्ति मय बताया है। अद्वैत विद्या की उपासना से यह रहस्य समझ में आता है। यह जगत रचना क्यों हुई ? इसे दार्शनिकों ने भिन्न भिन्न रूप से बताया है। मन वाणी से रहित यह अवस्था है इसलिये तर्क सम्मत उत्तर इसका नहीं हो सकता। न मनुष्य इसे बता ही सकता है। कोई लीला, कोई स्वभाव, कोई अविद्या बताते हैं। वास्तव में मनुष्य बहुत बाद में उत्पन्न हुआ है और उसकी बुद्धि अज्ञान से आक्रान्त है। इसलिये इस विषय का कोई भी उत्तर समुचित नहीं हो सकता। मनुष्य से ज्ञान छिपा लिया गया है इसका कारण माया ही है जो सूर्य के समान प्रकाश-युक्त ज्ञान प्राप्त किये हैं वे ही उसे यथार्थ रूप में देख सकते हैं या देखते हैं। उसे मन्त्र में सवर्ण पद से भी कहा गया है। वर्ण नाम रूप का है श्वेत कृष्ण रक्त आदि को भी वर्ण कहते हैं। ये सारे रङ्ग शब्द तत्त्व से बने हैं

ऐसा वैज्ञानिक साधक मानते हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य शूद्र ये चारों मनुष्यों का विभाग भी वर्ण कहा जाता है। ये सब वर्ण जिसमें रहते हैं इसीलिये उसे सवर्ण कहा गया है। सद्गुरु से यथार्थ उपदेश जब मनुष्य को प्राप्त होता है तब अविद्या माया हट जाती है तब वह भी परम पद को प्राप्त कर लेता है परमपद वह अमृत महा शक्ति ही है वह कभी भी मृत्यु को नहीं प्राप्त होती है इसीलिये अमृता उसे कहा है। मनुष्य भी वास्तव में मर्त्य नहीं है तथापि मृत्युग्रस्त पदार्थों में अध्यास होने से मर्त्य कहा गया है जैसे अग्नि से बहुत सी चिनगारियां प्रकट होकर पृथक् पृथक् दीखती हैं इसी प्रकार आनन्द स्वरूप पराशक्ति एवं परब्रह्म से महायोग प्राप्त कर बिन्दु रूप से जीव प्रकट हुआ है। माया में फंसा रहने पर भी जो सर्वदा आनन्द या सुख की ही खोज में रहता है। वास्तविक सुख अपने असली रूप के साक्षात्कार से ही होता है।

(६६)

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिसष्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्
अन्यो अभिचाकशीति ॥

ऋ० १-१६४-२०

शब्दार्थ—इस संसार रूपी वृक्ष पर दो पक्षी सखा भाव युक्त परस्पर मिले हुये बैठे हैं, उनमें एक वृक्ष के स्वादिष्ट फलों को खा रहा है, दूसरा संसार के फलों को नहीं खाता हुआ केवल देख ही रहा है।

व्याख्या

इस मन्त्र से द्वैतवाद के आचार्यों ने द्वैतवाद के सिद्धान्त का समर्थन किया है। मन्त्र में कहे हुये दो पक्षी ईश्वर एवं जीवात्मा का निर्देश करते हैं। वृक्ष संसार है इस पर दोनों बैठे हैं, जीव अविद्या के वशीभूत होकर राग द्वेषात्मक सुख दुख वृक्ष के फलों को खा रहा है, ईश्वर नित्य शुद्ध बुद्ध अविद्या से रहित नित्य तृप्त है। उसे इस संसार रूपी वृक्ष के फलों के खाने की आवश्यकता नहीं है। ईश्वर एक और जीव अनेक हैं। यद्यपि मन्त्र में ईश्वर की तरह जीव भी एक ही बताया गया है तथापि जीव में रहने वाली चेतन जाति एक है इसलिए उसे भी एक ही बताया है। अविद्या माया का ऐसा प्रभाव है कि जीव अपने स्वाभाविक सच्चिदानन्द स्वरूप को भूल गया है अनात्म पदार्थों को मान बैठा है जो कि केवल देखने में ही सुन्दर लगते हैं। वास्तव में उनका स्वरूप दृष्ट-नष्ट स्वभाव वाला है। ईश्वर तत्व को सभी धर्मों में एकसा ही माना गया है उसमें विशेष अन्तर नहीं। ईश्वर जीव का भेद द्वैतवाद के अनुसार नित्य हमेशा रहने वाला माना है। अद्वैतवादी मतों में भी व्यवहार अवस्था में द्वैत एवं उसके प्रतिपादक शास्त्र वचनों की प्रामाणिकता

स्वीकार की गई है, इस प्रकार द्वैत का स्वीकार सभी मतों में है, अज्ञान से साँसारिक सुख-दुःख जीव को मिल रहे हैं, ईश्वर से विमुख होना ही इसका मुख्य कारण है अतः उपासना शास्त्र में इसके उपाय बताये गए हैं कि जीव कैसे इससे छुटकारा पा सकता है। भागवत धर्म शैव शाक्तादिमत इस विषय में एकसा ही प्रतिपादन करते हैं, जीव अनेक होने पर भी मुख्यतः चार प्रकारों में विभक्त है पामर, विषयी, जिज्ञासु और मुमुक्षु। जिन्हें परमार्थिक ज्ञान नहीं है केवल मैं और मेरा में ही जो लगे हुये हैं वे पामर कहे जाते हैं, जिन्हें शास्त्राज्ञा का कुछ भी विचार नहीं है ये जीव पशुवत ही हैं। विषयी जीवों की प्रीति भोगों में होती है तथापि वे शास्त्रानुसार ही बर्ताव करते हैं। जिज्ञासु संसार के प्रत्येक वस्तु का अनुभव बुद्धि द्वारा जानना चाहते हैं। मुमुक्षु संसार के सभी विषयों में अरुचि रखते हैं। केवल ईश्वर भक्ति में ही लीन रहते हैं। इसके अतिरिक्त स्थावर जङ्गम पशु पक्षी आदि भी जीवों की कोटि है तथापि तमोगुण की उनमें अधिकता होने से सर्वथा ईश्वर विचार में उन्हें हेय गिना गया है। शास्त्र विरुद्ध आचरण करने से ये योनियाँ उन्हें प्राप्त होती हैं। इनमें भी क्रिया का तारतम्य होने से औषधि विज्ञान में श्रेष्ठ निकृष्ट भाव माने गये हैं, ऐसे ही पशुओं में भी है, न्याय वैशेषिक सांख्य मत में व्यापक अनेक ईश्वर से सर्वथा भिन्न जीव तत्व माना गया है, अणु परिमाण वाला अनेक ईश्वर से सर्वथा भिन्न श्री मध्वाचार्य श्री स्वामी दयानन्द जी ने माना है। श्री कण्ठाचार्य, श्री रामानुजाचार्य

ने नित्य भेद वाला मानते हुये विशेष्य विशेषण भाव सम्बन्ध विशिष्टाद्वैत स्वीकार किया है। जीव प्रकृति विशेषण एवं ईश्वर विशेष्य है। श्री रामानन्द स्वामी का भी यही मत है। भट्ट भास्कर एवं निम्बार्क मत में द्वैत एवं अद्वैत दोनों माने गये हैं। परिणामवादी शाक्त एवं शुद्धाद्वैत में अद्वैत माना गया है। इन सभी मतों में जीव अणु परिमाण है, हठ योग में भी जीवाणुवाद माना गया है, जैन मत में मध्यम परिमाण शरीर के परिमाण तुल्य जीव हैं इन सभी मतों में जीव पदार्थ नित्य है, बौद्ध मत में क्षणिक है वेदान्त के श्री शंकराचार्य के मत में जीव ईश्वर का भेद कल्पित है वास्तविक अद्वैत है संसार भी मिथ्या रज्जु में कल्पित सर्प के समान है।

संक्षेप में जीव ईश्वर जगत के सम्बन्ध में भारतीय विचारकों का मत श्रुति के अनुसार इसी प्रकार का है, मीमांसक मत में तत्व ज्ञान का विचार मुख्य रूप में नहीं किया गया है तथापि इस मत में व्यापक नित्य जीव माना गया है, ईश्वर को जीव के कर्म फलों को देने में अस्वीकार किया गया है केवल कर्म ही फल देने में समर्थ हैं। जैन बौद्धादि मतों में भी ईश्वर को नहीं माना गया है, चार्वाक मत में पंचभूतों का परिणाम ही जीव है। स्वभाव से ही सृष्टि कार्य चल रहा है। इस मत में भी ईश्वर नहीं है। इन सभी का आधार उक्त मन्त्र है अतः मनन करने के योग्य है।

[६७]

देवानां भद्रा सुमति ऋजूयतां
देवानां रातिरभि नो निवर्त्तताम् ।
देवानां सख्यमुपसेदिमा वयं देवा
न आयुः प्रतिरन्तु जीवसे ॥
(ऋ० १-६-५-२)

शब्दार्थ—देवताओं की कल्याणकारी बुद्धि प्राप्त हो। देवताओं का दान हमको प्राप्त हो। देवताओं की मित्रता हम प्राप्त करें। बहुत काल जीने के लिये हमें देवताओं की आयु प्राप्त हो।

व्याख्या

इस मन्त्र में देवताओं की बुद्धि, देवताओं का दान, देवताओं की मित्रता तथा उनकी दीर्घकाल तक जीने की आयु की प्रार्थना की गई है। नीति का वाक्य है—"बुद्धिर्यस्य वलं तस्य निर्बुद्धेस्तु कुतो वलम्" अर्थात् बुद्धि ही वास्तव में बल है निर्बुद्धिपन ही दुर्बलता है। बुद्धि प्रकृति की ज्ञान शक्ति का परिणाम है, सभी जीवों में इसका अंश देखा जा रहा है। स्थावर वृक्ष लता गुल्मादि से लेकर पशु पक्षी मनुष्य देवता आदि योनियों में तारतम्य के भेद से सभी प्राणियों में बुद्धि तत्त्व है। पशु पक्षी से आगे चलकर मनुष्य और देवता में बुद्धि का सर्वाङ्गीण विकास देखा जाता है। मनुष्य की बुद्धि में रजोगुण का योग होता है। इसलिये मनुष्य बुद्धि भी पूर्ण विकसित नहीं है। इसलिये देवताओं की बुद्धि की प्रार्थना की

गयी है। ज्ञान तत्त्व सत्त्वगुण से विकसित होता है। सत्त्वगुण की पाँच अवस्थायें मानी जाती हैं—सत्त्व, अतिसत्त्व, परम-सत्त्व, शुद्ध सत्त्व और विशुद्ध सत्त्व। सामान्य ज्ञान पशु पक्षी मनुष्यादि में सत्त्वगुण से होता है। स्वप्न अवस्था में जो ज्ञान होता है वह अतिसत्त्व और कारण शरीर में परम सत्त्व, योग की तुरीयाअवस्था का ज्ञान शुद्ध सत्त्व और विशुद्ध सत्त्व तुरीयातीत अवस्था का ज्ञान है। इस अवस्था में पराशक्ति एवं परमात्मा का ही ज्ञान रहता है। शुद्ध सत्त्व का ज्ञान एवं विशुद्ध सत्त्व का ज्ञान ही कल्याणकारी एवं यथार्थ ज्ञान है वही देवताओं की मति है। उसे इसीलिये भद्रा कहा गया है। अज्ञान के चक्कर में पड़ा हुआ मनुष्य का कल्याण इसी ज्ञान द्वारा होता है। देवताओं का दान हमें प्राप्त हो, इसका तत्त्व यह है निरपेक्ष केवल दूसरों के लिये ही देवता दान करते है उनका सारा कार्य (दान) संसार के लिये है। इसी प्रकार मनुष्य निष्काम कार्य करने से शुद्ध होकर जो जगत के लिये उपकार दृष्टि से कार्य करता है वही देवताओं का दान है। संसार में अनेक अवतारी पुरुष, महात्मा, ऋषि-मुनियों का कार्य इसी श्रेणी का है। इसे ही दैवी देन के नाम से कहा जाता है। समय समय पर प्रकट होकर यह आदर्श ऐसे मनुष्यों ने जगत् के सामने उपस्थित किया है। देवताओं की मित्रता हम प्राप्त करें। इसका रहस्य यही है कि हम देवताओं या विद्वत्पुरुषों की सङ्गति प्राप्त करके उनके आदर्शों पर चलें। यह बात उनकी मैत्री के बिना नहीं हो सकती। गीता में कहा गया है—"तद्विद्धिप्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया; उपदेक्ष्यन्ति

ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ।" अर्थात् नम्रतापूर्वक परिप्रश्न और ज्ञानी पुरुषों की सेवा करने से ही तत्त्वदर्शी ज्ञानी तत्त्व का उपदेश देते हैं, इसी प्रकार दैवी मैत्री प्राप्त होती है। बहुत काल तक जीवन प्राप्त हो इसका अभिप्राय यह है कि तत्त्व का अनुभव अल्पकाल में नहीं होता है। जब दीर्घकाल तक प्रयत्न किया जाता है, तभी कुछ ज्ञान प्राप्त होता है। योगाभ्यास, देव उपासना, दिव्य रसायन से ही यह सम्भव है। उक्त तीनों बातो की सहायक यह चौथी बात है। जीवन की सभी बातें संक्षेप में इन चारों बातों में आ गयी हैं, इनका अनुसरण करना चाहिये।

—:o:—

[६८]

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं
न विजानाति योऽर्थम् ।
योऽर्थज्ञः इत्सकल भद्रमश्नुते
नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा ॥

(नि० १-१८-१)

शब्दार्थ—वह पुरुष ठूंठ वृक्ष के समान निष्फल है और केवल शब्दों का भार ढोने वाला ही है जो कि वेदाध्ययन करने पर भी उसके अर्थों को नहीं जानता है। जो अर्थज्ञ है वही सब प्रकार के कल्याण का भागी है; और ज्ञान से सभी पापों से शुद्ध होकर परमानन्द मोक्ष को प्राप्त करता है।

व्याख्या

इस मन्त्र को महर्षि यास्क ने निगम का मन्त्र बताया है। ऋग्वेद भाष्य भूमिका में श्री सायणाचार्य ने भी स्वीकार किया है। इससे मिलता-जुलता एक श्लोक स्मृति में भी है जो कि इस वेद वाक्य का स्मृति वाक्य है। अतः इसे वेद मन्त्र मानने में कोई शंका नहीं रहती। वर्तमान में संहिता साहित्य में यह मन्त्र नहीं देखा जाता तथापि इसे सभी वैदिक मन्त्र ही मानते हैं। अस्तु मन्त्र में ज्ञान की प्रशंसा की गयी है। जो पुरुष केवल वेद के शब्दों का ही अभ्यास करता रहता है और अर्थ ज्ञान से शून्य रहता है वह शब्दों का भार ढोने वाला वास्तविकता से बहुत दूर है। वह उस ठूंठ वृक्ष के समान है जिसमें फूल, पत्ते, फल नहीं होते। ऐसी एक कथा भगवान सनत्कुमार और श्री नारद के सम्वाद में छान्दोग्य उपनिषद के सातवें अध्याय में आयी है। नारद ने सभी शास्त्रों के अध्ययन के पश्चात् शोक सन्तप्त होकर भगवान से पूछा कि भगवन् मैंने सभी वेद शास्त्र तथा उपाङ्गों का अध्ययन किया है तथापि मैं शोकाग्नि से सन्तप्त होता रहता हूँ। इसलिये शोक मुक्त होने का उपाय बताइए। भगवान् सनत्कुमार ने उत्तर दिया हे नारद तुमने जो कुछ जाना है वह केवल नाम ही है। वेद शास्त्रों का तत्त्व परमात्मा है उसे जब तक मनुष्य नहीं जानता तब तक शोक की निवृत्ति नहीं होती वह तुम्हें अभी तक ज्ञात नहीं हुआ है। उसे जानकर ही तुम शोक से छूट कर सुखी हो सकते हो। तब भगवान्

सनत्कुमार ने भूमाविद्या (ब्रह्म विद्या) का उपदेश देकर नारद को शोक से मुक्त किया। यही तत्व मन्त्र में बताया है कि जो वेदाध्ययन के साथ सार्थज्ञान युक्त है। वही सब श्रेयों को प्राप्त करता है अन्त में ब्रह्मपद की भी उसे हो प्राप्ति होती है। शिक्षा का उद्देश्य शिक्षणीय वस्तु का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर तदनुकूल आचरण करना है। लौकिक एवं पारमार्थिक ज्ञान केवल वैदिक शिक्षा से ही होता है क्योंकि अभ्युदय एवं निःश्रेयस का ज्ञान वेदों द्वारा ही प्राप्त होता है। संसार में आजकल केवल भौतिक ही शिक्षण दिया जा रहा है। जिससे मनुष्य की एकाङ्गी ही उन्नति हो रही है। शोक, सन्ताप, लड़ाई झगड़े आदि इसीलिये बढ़ते जा रहे हैं। शिक्षा विदों को इस ओर ध्यान देना चाहिये क्योंकि लोक परलोक दोनों के शिक्षण से ही कल्याण होता है यही इस मन्त्र का तत्त्व है।

इस मन्त्र का कुछ लोग ऐसा भी अर्थ करते हैं। 'स्थाणू' का अर्थ उनके मत से गर्दभ किया गया है और यह श्लोक उदाहरण में दिया है–'यथा खरश्चन्दन भारवाही भारस्यवेत्ता न तु चन्दनस्य। एवं हि शास्त्राणि बहून्यधीत्य चार्थेषु मूढाः खरवद् वहन्ति।" अर्थात् जैसे चन्दन भार को ले जाने वाला गर्दभ चन्दन के गुण को नहीं जानता केवल भारवाही ही होता है। इसी प्रकार केवल शास्त्र को पढ़ने वाले शास्त्र भार के ही वहन करने वाले हैं जो कि अर्थ ज्ञान से शून्य हैं– नीति शास्त्र में भी कहा है—"शास्त्राणि अधीत्यापि भवन्ति मूर्खा यस्तु क्रियावान् स एव विद्वान्" अर्थात् मनुष्य शास्त्र पढ़ने पर भी मूर्ख ही है जो शास्त्रानुकूल आचरण करता है वही विद्वान है।

[६९]

अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते
विप्रा वाचा मनसा कर्मणा वा ।
यथैव ते न गुरो—र्भोजनीयास्तथैवतान्न
भुनक्ति श्रुतं तत् ॥
(नि. २-४-३)

शब्दार्थ—जो विद्यार्थी विद्या प्रदान करने वाले गुरु की मन-वाणी सेवादि से, आदर या पूजा सेवा नहीं करते उनका पढ़ा हुआ ज्ञान, निष्फल हो जाता है अर्थात गुरु की पूजा बिना वह पढ़ा हुआ ज्ञान भी उन्हें पूजित नहीं होने देता ।

व्याख्या

गुरु तत्त्व की श्रेष्ठता उक्त मन्त्र में कही गयी है । गुरु वास्तव में ईश्वर तत्त्व का ही स्वरूप है । इसीलिए महर्षि पतञ्जलि ने योग दर्शन में बताया है कि 'सपूर्वेषामपि गुरुः कालेना न वच्छेदात्' ब्रह्मा विष्णु शिवादि पूर्व के ईश्वर स्वरूपों का भी वह परमात्मा गुरु रूप से उपादेय है । काल से भी जिसका परिच्छेद नहीं होता; क्योंकि वह कालातीत है । उपनिषदों में भी गुरुतत्त्व की श्रेष्ठता बतायी गयी है; कि जिसकी ईश्वर एवं गुरुतत्त्व में समान भक्ति होती है उसी को वेदान्त में प्रतिपादित अर्थों का यथार्थ ज्ञान होता है । साधना शास्त्र में नाद, बिन्दु से युक्त कला तत्त्व में जब शब्द तत्त्व से विकसित ज्ञान शक्ति का सम्बन्ध होता है, तभी गुरु तत्त्व का

स्वरूप व्यक्त होता है। उसके स्मरण पूजन ध्यानादि से ही साधक पूर्णता लाभ करता है। साधना की सिद्धि गुरुतत्त्व पर ही निर्भर है। इसी प्रकार शास्त्र ज्ञान जिन पुरुषों से प्राप्त किया जाता है; उनका सम्मान करना विद्यार्थी का कर्तव्य है। यदि विद्यार्थी ऐसा नहीं करता, तो उसका पढ़ना व्यर्थ ही चला जाता है। छान्दोग्य उपनिषद् में एक आदर्श विद्यार्थी की गुरु भक्ति की कथा इस प्रकार दी गई है—'एक आदर्श विद्यालय के गुरु श्री गौतम ऋषि के पास अध्ययन की इच्छा से सत्यकामजावाल आचार्य की सेवा में गए। आचार्य ने उन्हें आज्ञा दी कि आश्रम में चार सौ गायें हैं इनको चराने के लिये जङ्गल में ले जाओ जब तक इनकी एक हजार संख्या न हो तब तक आश्रम में लौटकर नहीं आना। गौवों की एक हजार संख्या होने में कई वर्ष लग गये तब भी सत्यकाम धैर्य पूर्वक अपने शिष्य के कर्त्तव्य को करने से किंचित भी विचलित नहीं हुए। उनकी यह दृढ़ भक्ति देखकर सभी चकित थे। गौवों की एक सहस्त्र संख्या हो गयी तब भिन्न भिन्न देवताओं ने आकर ब्रह्म की षोडश कलाओं का उपदेश देकर ब्रह्म के स्वरूप का बोध कर दिया और देवताओं ने कहा कि हे सत्यकाम तुम्हारी इस गुरुभक्ति से हम सब प्रसन्न हुए हैं उसी से प्रेरित होकर तुम्हारा अभिलषित ब्रह्म विद्या का रहस्य हम सबने तुम्हें बता दिया हैं। अब तुम गौवों को लेकर अपने गुरु गौतम ऋषि के पास जा सकते हो। देवताओं की अनुमति से एक सहस्त्र गौवों को लेकर आश्रम में पहुंचने पर सत्यकाम गुरु के चरणों में प्रणाम

किए। उनके समीप में जब बैठे तब गुरु उनकी आकृति देखकर पूछने लगे कि हे सत्यकाम मालूम होता है कि तुम्हें ब्रह्म विद्या प्राप्त हो गयी है। तुम्हारे चेहरे पर ब्रह्म तेज झलक रहा है 'ब्रह्मविदिदेव सौम्य ते मुखं भाति' हे सौम्य! तेरा मुख ब्रह्म वेत्ताओं का सा प्रतीत हो रहा है। इसे सुनकर सत्यकाम ने कहा भगवान हमें देवताओं द्वारा ब्रह्म की षोडश कलाओं का उपदेश प्राप्त हुआ है तथापि जब तक आप ब्रह्मोपदेश नहीं करेंगे तब तक इसे मैं सफल नहीं समझता। धन्य वह शिष्य है जिसकी गुरु में इस प्रकार की निष्ठा है। एक ही दिन में ब्रह्म विद्या का रहस्य प्रसन्नचेता गुरु ने उसकी अपूर्व भक्ति से तुष्ट होकर बता दिया।

भारतीय संस्कृति के आदर्श गुरु शिष्य परम्परा का यह सबसे उत्कृष्ट उदाहरण है। इसके भूलने से आज हमारे शिक्षालयों की दुर्गति हो रही है।

[७०]

विद्याहवै ब्राह्मणमा जगाम गोपाय
मा शेवधिष्टेऽहमस्मि ॥
असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया
वीर्यवती तथास्याम् ॥
(ऋक २-४-२)

व्याख्या

शब्दार्थ—विद्या ब्राह्मण के पास आकर कहने लगी कि हे ब्रह्मन् मैं तुम्हारे लिये खजाने का काम करूँगी। तू

मुझे तीन व्यक्तियों से रक्षा कर, पहले वे पुरुष हैं जो परापवादी हैं गुणों में जिनकी दोष बुद्धि होने से परोत्कर्ष को जो नहीं सहन कर सकते, दूसरे जिनकी प्रवृत्ति टेढ़े टेढ़े कार्यों में ही रहती है। तीसरे वे जो अपनी इन्द्रियों को नियम में नहीं रख सकते ऐसे लोगों के पास जाकर मैं कमजोर हो जाती हूं; इसलिये इन्हें नहीं बताना। ऐसा करने पर मैं बलवती होती हूँ।

विद्या या ज्ञान इस संसार में सबसे अधिक पवित्र करने वाला है। इसे श्रीमद्भगवद्गीता में बताया गया है—'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते' गंगा जमुना काशी प्रयाग आदि तीर्थों से भी जो शुद्धि नहीं हो सकती वह ज्ञान से होती है। ज्ञान प्राप्ति से ही परम शान्ति मनुष्य को मिलती है। इस जीवन में जो ज्ञान से वंचित है वह पशु के ही तुल्य हैं 'विद्या विहीनः पशु' इस तत्त्व को मन्त्र में सुबोध रूप से बताया गया है। विद्या के देवता ने विद्या के अधिकारी ब्राह्मण के पास आकर बताया है कि विद्या किसे अपना स्वरूप प्रकट करती है और कौन अनधिकारी है। जो लोग असहिष्णु हैं हमेशा दूसरों की बुराइयों को ही करते रहते हैं उन्हें विद्या देना मना है क्योंकि उनकी बुद्धि दूषित है। संसार में कोई भी वस्तु गुण एवं दोष से खाली नहीं है तथापि गुण को छोड़कर दोष में ही जो लोग लगे रहते हैं उनकी बुद्धि में गुण ग्रहण की शक्ति न होने से वे विद्या के अनधिकारी हैं ऐसे पुरुषों को विद्या मिल जाने पर भी निष्फल ही हो जाती है

और अपना वास्तविक फल नहीं प्रकट करती है उन्हें ही विद्या पिशाच या ब्रह्म राक्षस पद से कहा गया है। सरलता न होने से विद्या अपना प्रकाश नहीं करती है। जैसे सीधे मार्ग पर चलते रहने मे मनुष्य अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच जाता है इसी प्रकार ऋजुमार्ग गामीविद्या के यथार्थ फल को प्राप्त करता है। ज्ञान का प्रवाह बुद्धि मन इन्द्रियों द्वारा फैल रहा है। मन के संयम बिना अस्त व्यस्त रूप में उसका रूप व्यक्त होता है अतः मन इन्द्रियों के संयम द्वारा योगाभ्यास करके विद्याधिकारिता प्राप्त करना चाहिए। जिससे वस्तु के स्वरूप का यथार्थ परिचय हो उसे ही विद्या कहते हैं 'वेत्ति अनयेति विद्या' विषय के भेद से विद्या के दो प्रकार हैं अपरा और परा। पृथक रूप से विषय विषयी रूप से जिसका परिचय होता है उसे अपरा कहते हैं संक्षेप में लौकिक विषय को बताने वाली को अपरा विद्या कहते हैं। अद्वैत ब्रह्म के स्वरूप को बताने वाली विद्या परा कही जाती है जो विषय विषयी की एकता बताती है जिसे इस प्रकार कहा गया है 'अहन्तेदन्त यो रैक्यं मिति विद्या निगद्यते।' अहन्ता (चेतन) और इदन्ता (जड़ वर्ग) की एकता करने वाली को ही विद्या कहा गया है। यही वास्तविक विद्या है। इसके जानने वाले को ही उपनिषदों में विद्वान बताया गया है। श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ के नाम से दोनों विद्वानों को कहा गया है। यह जीवन प्राप्तकर मनुष्य को ऊपर कहे हुये विद्या के स्वरूपों को जानकर कृतार्थ होना चाहिये, इसी में मनुष्य जीवन की सफलता है। यह वैदिक शिक्षण हमारे देश से उठ चला है

विद्या केवल उदर पोषण का साधनमात्र रह गई है। देश के विद्वानों को इस ओर लक्ष्य करना चाहिए।

—:०:—

[७१]

देवीस्तिस्रस्तिस्रो देवीरश्विनेडा सरस्वती।
शूषं न मध्ये नाभ्यामिन्द्राय दधुरिन्द्रियं
वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज ॥

(य. २१-५४)

शब्दार्थ—तीन देवियां हैं जिन्हें इडा, सरस्वती और भारती नाम से कहा जाता है। मध्य में (अनाहत) इनके योग के चिन्तन से आनन्द की प्राप्ति होती है। नाभि में ऐश्वर्य के लिए इन्द्रिय को धारण करती हैं। यं बीज के चिन्तन से ऐश्वर्य तथा अनेक प्रकार के धन को प्रदान करती हैं। इसलिए हे मनुष्य तू भी इनकी पूजा तथा इनसे सम्बन्धित देवताओं की अर्चना एवं योग द्वारा इनको सङ्गति कर। तुझे भी सभी वस्तुओं की प्राप्ति होगी।

व्याख्या

इन तीनों देवियों के विषय में यास्क मुनि ने इस प्रकार बताया है। इडा नाम की शक्ति पृथ्वीस्थान की है। योग-शास्त्र में इसे चन्द्रनाडी में कहते हैं क्योंकि चन्द्रमा का खण्ड पृथ्वी का ही भाग है। दूसरी भारती के नाम की व्याख्या सूर्य संबंधी किया है। 'भरतः सूर्यस्तस्य भा भारती' भारत नाम

सूर्य का है उसका प्रकाश भारती है योगशास्त्र में इसके रङ्ग को लेकर पिंगला नाम दिया गया है और इडा को स्वेत रङ्ग का माना गया है। सरस्वती स्वच्छ अग्नि स्वरूप वाली है। इसे सुषुम्णा कहा गया है। मन्त्र में 'देवीस्तिस्र' दो बार कहा गया है। इसका अभिप्राय चित्रा, वज्रा और सुषुम्णा के इस तीन भेद को एक एक करके बताना है इन्हें ही तन्त्रशास्त्रों में काली, तारा और श्रीविद्या के नाम से कहा गया है। काली अग्नि स्वरूप से, तारा सूर्य रूप से एवं श्री चन्द्र रूप प्रतीक द्वारा उपास्य है। इनकी पूर्णता तीन क्रमोपदेशों में दी गई है। बाकी अन्य शक्तियां इन्हीं के रूपान्तर हैं। मुख्य रूप से दश महाविद्यायें जो मानी गई हैं। मूल में इन्ही तीनों शक्तियों का विकास है। इनका क्रियात्मक रूप प्राणतत्त्व द्वारा व्यक्त होता है। इसलिये मन्त्र में 'अश्विन्' शब्द दिया गया है। प्राण अपान गति की सूचना से प्राण को अश्विनीकुमार कहते हैं। दश विद्याओं का दसप्राण भेद बाला शतपथ ब्राह्मण में बताया गया है—'प्राणावैदशवीराः प्राणानेवात्मन् धत्ते' (श. १२–८–१–१२) यह दशमहाविद्याओं का वैदिक मूल है। इसे ही वीर मार्ग भी कहा गया है। प्राण ही सूर्य चन्द्र नाम से कहे जाते हैं। यास्क ने कहा है "सूर्या चन्द्रमसा वित्येके" शक्तितत्व शक्तिमान ब्रह्म तत्त्व का अभिन्न स्वरूप है। इसलिये शक्ति उपासना ब्रह्म की ही उपासना है अन्य उपासनाओं से शक्ति उपासना में यह विशेष है कि लौकिक एवं पारमार्थिक दोनों सिद्धियां इस मार्ग में हैं। मूलाधार से जब योगी कुण्डलिनी शक्ति को जगाकर मध्य हृदय कमल में तीनों

शक्तियों का योग सिद्ध करता है तब उसे मोक्षानन्द प्राप्त होता है। नाभि स्थान जिसे मणिपुर कहते हैं वहां पर संयम पतञ्जलि ने बताया है–'नाभिचक्रे' काया व्यूह ज्ञानम् नाभिचक्र के संयम से शरीर की बनावट का समस्त ज्ञान हो जाता है। मन्त्र में इसे ही 'इन्द्राय इन्द्रियं दधुः' इस वाक्य द्वारा कहा गया है। 'मध्ये शूषम्' से मोक्षानन्द लिया गया है। इन्द्रिय का अर्थ प्रीति की विषमता या सेवित अर्थ पाणिनीय सम्मत है ज्ञान अर्थ भी किया है। 'यस्य' अर्थात मध्य में वायवीय 'यं' बीज के अभ्यास द्वारा 'वसुवने' ऐश्वर्य और उसके भोगने को सामर्थ्य 'सम्भक्ति' प्राप्त होती है। 'वसुधे' वसु धन रत्न आदि धारण करने की योग्यता मिलती है 'व्यन्तु' निरवधि ऐश्वर्य प्राप्त हो या बन्धन से रहित हो। इसलिये हे मनुष्य शक्तित्रय रूप तीनों देवियों की पूजा या योग द्वारा संगति कर। तुझे भी दोनों सुख प्राप्त होंगे। संक्षेप रूप में यह मन्त्रार्थ बताया गया। यह योग का विषय है। इसे बार बार मनन एवं साधना के द्वारा साक्षात् करने का प्रयत्न करना चाहिए।

[७२]

तिस्रस्त्रेधा सरस्वत्यश्विना भारतीडा।
तीव्रं परिस्रुता सोममिन्द्राय सुषुवुर्मदम्॥

(यजु० २०–२१)

शब्दार्थ—सरस्वती, इडा और भारती नाम की देवियां प्रत्येक तीन तीन भेद से नौ प्रकार की हो जाती हैं। सोम से तर्पण करने पर इन्द्र के लिये (साधक को) तीव्र स्वरूप आनंद मद को पैदा करती हैं।

व्याख्या

पूर्व के मन्त्र में इडा, सरस्वती और भारती देवियों का स्वरूप बताया गया और उनका योगाभ्यास के अनुसार, अर्चन के द्वारा भुक्ति एवं मुक्ति का सिद्धांत बताया गया। सत्व, रज और तमोगुण के भेद से तीनों शक्तियों के ९ भेद बताये गए। एक परा रूप वाली होने से दश संख्या की पूर्ति होती है इन्हें ही दश महाविद्याओं के नाम से तन्त्र शास्त्र में माना गया है। मूलबन्ध से व्यक्त होने वाली दश नाडियों में जिनका प्रवाह होता है। किसी किसी मत में ये नाडियां चौदह मानी गयी हैं। योग ग्रंथोंमें सुषुम्ना चित्रा और वज्रा के पश्चात् 'पंचवर्णोज्वला देवि सप्तान्या नाडयो मताः' (षट्चक्र विवृति) इसलिए दस ही मुख्य हैं। दक्षिणा-मूर्ति कोश में चौदह मानी गयी हैं। इनका सोम से तर्पण करने की विधि बताई गयी है। सोम एक प्रकार की औषधि है जिसका रस मद उत्पन्न करने वाला एवं हलके नशे का पैदा करने वाला है। जिसे सोमयाग के उपयोग में लाया जाता था। जबसे नवीन दृष्टि से वेद विचार होने लगा है, तब से सोम के सम्बन्ध में तरह तरह के विचार देखे जा रहे हैं। उसमें कई विचार तो बहुत ही विलक्षण हैं। मौंजवान पर्वत पर यह औषधि होती है। ऐतरेय ब्राह्मण में यह सोम औषधि स्वर्ग से आई है, ऐसा बताया गया है। अस्तु कुछ लोग भगवान शिव को सोम बताते हैं (उमया सहितः सोमः) यह आध्यात्मिक सोम है। सोम की प्राप्ति न होने से कदाचित् तर्पण के लिए सुरा नामक द्रव्य का उपयोग होने

लगा। वर्णन में दोनों पदार्थों में बहुत साम्य है। त्रिपुरोप-निषद में इसके उपयोग करने वालों को चेतावनी दी गयी है कि विषय बुद्धि से पंच तत्त्वों का सेवन करने वालों को अरुणा शक्ति मार देती है। मन्त्र द्रष्टा ऋषि ने सोम को तीव्र मदकारी द्रव्य बताया है। 'परिस्रुता' शब्द त्रिपुरोपनिषद में भी आया है 'परिस्रुतंझषमाद्यंपलं च' इत्यादि दशों नाड़ियों में प्रवाहित शक्ति तत्त्व का सुषुम्ना में अन्तर्भाव करके सोम रूप भगवान शिव की प्राप्ति जीवात्मा करता है। तब आनन्द रूप ब्रह्मानंद के नशे को प्राप्त करके मस्त रहता है इसके लिए वाह्य पदार्थों की आवश्यकता नहीं होती है। जो ऊँचे उठ गए हैं वही यह आनंद प्राप्त कर सकते हैं। दूसरे साधकों को सोम सुरा के तर्पण द्वारा आनंद प्राप्त करने को बताया गया है। परशुराम सूत्र में भी संयत रूप में ही इसका ग्रहण बताया गया है।

प्राचीन समय में अनेक वैदिक यज्ञों में इसका उपयोग होता था। मीमांसा दर्शन में इसकी मीमांसा की गयी है। इनका असंयत रूप होने से तथा दुरुपयोग की बाढ़ आने से इसे सर्वथा बन्द कर दिया गया। अवैदिक जैन बौद्ध धर्मों ने भी इसका बहुत ही विरोध किया। नवीन वैष्णव भी इसी पद्धति पर चले। ये बातें वास्तव में दुरुपयोग से ही अक्सर प्राप्त कीं। अतः इस वैदिक सिद्धांत के मानने वालों को बड़े विचार से चलना चाहिये।

—:०:—

(७३)

याँ त्वा देवा असृजन्तविश्व
इषुं कृण्वाना असनाय धृष्णुम् ।
सा नो मृड विदथे गृणाना
तस्यै ते नमो अस्तु देवि ॥

(अथर्व १-१३-४)

शब्दार्थ—हे देवि शत्रु को मारने के लिये सुदृढ़ वाण रूप से सब देवताओं ने तुम्हें प्रकट किया था । तुम्हारे इस रूप को नमस्कार हो । युद्ध एवं यज्ञ (विदथ) में तुम्हारी ही प्रशंसा होती है । अतः तुम हमें सुखी करो ।

व्याख्या

स्वाभाविक रूप से यह बात लोक में प्रसिद्ध है कि दुष्ट मनुष्य धार्मिक पुरुषों के ऐश्वर्य को देखकर उनसे द्वेष करते रहते हैं और उनसे झगड़ा फिसाद भी किया करते हैं इसे ही एक कहावत में कहा गया है 'पर सम्पदुत्कर्षो हि हीन सम्पदं पुरुषं दुःखा करोति' अर्थात् श्रेष्ठ पुरुषों का उत्कर्ष क्षुद्र पुरुषों को सदैव पीड़ित करता रहता है । कभी कभी तो इसका भयानक रूप हो जाता है और राष्ट्र पर विपत्ति के रूप में भी यह उपस्थित होता है । ऐसे समय पर श्री जगन्माता ही वास्तविक सहायता करती हैं । यह प्रसङ्ग संसार में बराबर आता ही रहा है । और देवता ऋषि ब्राह्मणों ने समय समय पर विधि विधान से श्री जगन्माता

को अपनी भक्ति से प्रसन्न करके दुष्टों के संहार के साथ साथ उनकी कृपा द्वारा जगत का कल्याण किया है। यह विषय इतिहास पुराणों में अनेक स्थानों पर कहा गया है। मार्कण्डेय पुराण में ऐसी ही एक कथा कही गई है। एक समय महिषासुर दैत्य ने तप के द्वारा महत्व प्राप्त कर अन्याय के बल से देवराज का पद प्राप्त कर लिया था। इसके पश्चात् संसार में अन्याय करने लगा। चारों तरफ हाहाकार मच गया। ब्रह्मा विष्णु और शिव आदि समस्त देवताओं ने मिलकर जगन्माता की स्तुति अपनी रक्षा के लिए की उसी का वर्णन दुर्गा पाठ के २, ३, ४, अध्यायों में किया गया है। उसी का मूल इस मन्त्र में बताया गया है।

धृष्णु पद महिषासुर को बताने वाला है। इस महाशक्ति के स्वरूप को पुराण में महालक्ष्मी नाम दिया गया है। यह नाम संगठन शक्ति वाला है। क्योंकि संगठन शक्ति ही महालक्ष्मी का स्वरूप है। जहां एकता है वहीं लक्ष्मी का वास है। इस मध्यम चरित्र की महालक्ष्मी सभी देवताओं के संगठन से ही प्रकट हुई थीं। युद्ध एवं विजय प्राप्ति के लिए जो अनुष्ठान या यज्ञ किये जाते हैं उनमें सर्वत्र इसी तत्त्व को स्तुति की जाती है। काली (बल) सरस्वती (ज्ञान) इस महालक्ष्मी के साथ युक्त हैं। पहले जिन तीन शक्तियों का प्रसङ्ग बताया गया है। वह सर्वदा तीनों एक साथ ही रहती हैं। तीनों का योग समवाय संबन्धावच्छिन्न रूप से ही रहता है अर्थात् कभी भी वियुक्त नहीं होता है। बल के प्रसङ्ग में

काली तत्त्व एवं ज्ञान के प्रसङ्ग में सरस्वती की प्रधानता एवं अन्य शक्तियां गौण रहती हैं। उसी की प्रार्थना मन्त्र में की गई है और उसी से रक्षा की प्रार्थना करना उपयुक्त बताया गया है। यह वैदिक शक्ति साधना का परम रहस्य अत्यन्त संक्षिप्त रूप में बताया गया है। साधकों को मनन करना चाहिए।

—:०:—

(७४)

विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदो भयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययांमृतमश्नुते॥

(यजु० ४०–११)

शब्दार्थः—जो विद्या एवं अविद्या को साथ साथ जानते हैं वही यथार्थ ज्ञानी हैं। वे ही अविद्या द्वारा मृत्यु को पार करके विद्या द्वारा अमृत (मोक्ष) पद को प्राप्त करते हैं।

व्याख्या

विद्या एवं अविद्या तत्त्व का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है इन्हीं के द्वारा यथार्थता का अनुभव मनुष्य प्राप्त करता है जो केवल अविद्या की उपासना करते हैं वे अंधेरे में चले जाते हैं। उनसे अधिक वे अंधेरे में चले जाते हैं जो विद्या की उपासना करते हैं। इस विरोध को हटाने के लिये यह मन्त्र रूप में बताया गया है जिसका मन्तव्य विद्या अविद्या को एक साथ ही व्यवहार में लाना है इसी से यथार्थता का स्वरूप ज्ञात होता है। सामान्यतः कुछ विद्वान विद्या का अर्थ ज्ञान और अविद्या

का अर्थ कर्म करते हैं। उनके मत से केवल ज्ञान से सिद्धि नहीं होती हैं कर्म के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करके ज्ञान एवं कर्म को साथ-साथ करने से कर्म से मृत्यु को पार करके ज्ञान से मुक्ति होती है। कुछ विद्वान विद्या का अर्थ उपासना करते हैं उनके मत से उपासना, कर्म विद्या एवं अविद्या पद से गृहीत हैं उन्हीं का समुच्चय विद्या अविद्या का अर्थ होता है। ज्ञान के अर्थ में यह नहीं हो सकता क्योंकि ज्ञान का अर्थ कर्त्तापन से रहित एक अद्वैत ज्ञान होता है उसके साथ कर्म का सम्बन्ध नहीं हो सकता। इस मत में ज्ञान और कर्म एक साथ नहीं रह सकते क्योंकि उनका परस्पर विरोध है। परमात्मा की इच्छा ज्ञान और क्रिया के भेद से पराशक्ति तीन प्रकार से विभक्त है जगत् की उत्पत्ति में ज्ञान क्रिया के पहले इच्छा शक्ति का आविर्भाव होता है। ज्ञान क्रिया का प्राकट्य इच्छा के ही अधीन है इसलिये ज्ञान और क्रिया में इच्छा का अन्तर्भाव करके दो ही ज्ञान एवं क्रिया शक्तियाँ जगत्कार्य में प्रकट रूप में देखी जाती हैं। उन्हें ही मन्त्र में विद्या एवं अविद्या के नाम से कहा गया है। अविद्या का अर्थ विद्या से भिन्न है जैसे सुर से भिन्न असुर कहे जाते हैं विद्या का अभाव अविद्या नहीं है यदि अभाव अर्थ लेंगे तो भाव एवं अभाव का समन्वय नहीं हो सकेगा। इसलिये दोनों को भाव रूप में मानना योग्य है। वास्तव में इन दोनों शक्तियों में विरोध नहीं है विरोध तो माया तत्त्व से व्यक्त जीव तत्त्व में रही हुई अविद्या के साथ है। विद्या द्वारा इसी की निवृत्ति मानी गयी है। मन्त्र में कहे हुये अविद्या तत्त्व की निवृत्ति

किसी भी अवस्था में नहीं होती न उसकी आवश्यकता ही है वह किसी का साधक बाधक भी नहीं है प्रत्युत साध्य सिद्धि में उपयोगी ही है इसलिए जो केवल ज्ञान के अनुयायी हैं कर्त्तव्य कर्म जिन्होंने छोड़ दिया है वह ज्ञान रहित केवल कर्म करने वाले से भी अधिक अंधेरे में चले जाते हैं। ज्ञान रहित कर्म करने वाला तो केवल अँधेरे में ही जाता है इसलिए दोनों का समन्वय ही यथार्थ है। गीता शास्त्र में इसे ही सांख्य निष्ठा एवं योग निष्ठा के नाम से बताया गया है। "ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्"। सांख्यवादी ज्ञान निष्ठा और कर्म योगियों ने कर्म निष्ठा माना है। 'योग युक्तों मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधि गच्छति" इस श्लोक में ज्ञान और कर्म का साहचर्य माना गया है। इसका अभिप्राय उक्त कथन को ही पुष्ट करता है। केवल ज्ञान या केवल कर्म की मुख्यता एक देशीय है। मीमांसकों ने केवल कर्म को प्रधान एवं वेदान्तियों ने ज्ञान को श्रेष्ठ बताया है। कुछ समय से ज्ञान की प्रधानता का देश में उपदेश होने से कर्म मार्ग गौण हो गया है। बहुत लोग ज्ञान को ही एक श्रेय का मार्ग मानने लगे हैं तथापि यह मार्ग उक्त मंत्र के अनूकूल नहीं है ज्ञान से कर्त्ता भोक्तापन से रहित होकर कर्म करना ही मन्त्र का उद्देश्य है जैसे ईश्वर का जगत्कार्य चल रहा है ऐसे ही महापुरुष भी होते हैं जो कर्म एवं ज्ञान का यथार्थ में समुच्चय मानकर कर्तव्य कर्म का कभी त्याग नहीं करते। ज्ञान रहित कर्म जो केवल भोग के लिए किया जाता है वह पशुवत ही है कार्य रहित ज्ञान केवल वाचकज्ञान होने से निष्फल है

हृदय की शुद्धि कर्म से ही होती है। अशुद्ध हृदय का ज्ञान अज्ञान का ही स्वरूप है इसलिए ऐसे ज्ञानी बहुत ही अंधेरे में चले जाते हैं ऐसा मन्त्र में बताया गया है। इस मन्त्र के पूर्व के दोनों मन्त्रों का अभिप्राय इस एक मन्त्र में ही बतला दिया गया है। क्योंकि ९, १०, ११ इन तीनों मन्त्रों का उपसंहार एक ही है।

—:०:—

[७५]

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद् वेदो भयं सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्या मृतमश्नुते॥

(यजु० ४०–१४)

शब्दार्थः—जो कारण एवं कार्य अर्थात् निर्गुण एवं सगुण ब्रह्म की उपासना या ज्ञान एक साथ करते हैं। वे कार्य ब्रह्म को उपासना द्वारा मृत्यु को पार करके निर्गुण ब्रह्म असम्भूति से अमृत या मोक्ष सुख को प्राप्त करते हैं।

व्याख्या

जिस प्रकार पूर्व के मन्त्र ९, १०, ११ इन तीनों मन्त्रों का एक अन्वय है इसी प्रकार १२, १३, १४ इन तीनों मन्त्रों का भी अन्वय एक ही है। इसलिये १२, १३ इन दोनों मन्त्रों का अर्थ इस चौदहवें मन्त्र में बता दिया जायगा उन्हें पृथक नहीं लिखेंगे। इस मन्त्र में सगुण एवं निर्गुण ब्रह्म की उपासना का सिद्धान्त विद्या अविद्या की ही तरह समन्वय रूप

में बताया गया है। वेदों से लेकर पुराण दर्शन आदि सब वेदानुकूल शास्त्रों में ब्रह्म के साक्षात् करने को ही अन्तिम लक्ष्य बताया गया है। उस परमतत्त्व का स्वरूप नित्य शुद्ध बुद्ध व्यापक एक अद्वैत रूप से प्रतिपादन किया गया है। जीव अविद्या से संकुचित रूप वाला हो गया है वह ईश्वरोपासना से अपने स्वरूप का विकास करके पूर्णता को प्राप्त करता है। इसका प्रकार शैव, शाक्त, वैष्णव आदि उपासना शास्त्रों में बताया गया है। ये उपासना शास्त्र सम्भूति या सगुण तत्त्व को लेकर चले हैं। कुछ ऐसे सम्प्रदाय भी हैं जो निर्गुणवाद को ही लेकर चले हैं। सगुण मत वाले निर्गुण को तथा निर्गुण बादी सगुण उपासना को हेय मानते हैं। इसी विरोध को हटाने के लिये इस मन्त्र की प्रवृत्ति हुई है। इस समय भारत वर्ष में सगुण उपासना ही प्रधान रूप से प्रचलित है। निर्गुण वाद के समर्थक नानक, कबीर, दादू आदि सन्त ही प्रधान रूप में गिने जाते हैं। जो सम्भूति (सगुण) की उपासना करते हैं वे अंधेरे में चले जाते हैं उनसे वे अधिक अंधेरे में जाते हैं जो (असम्भूति) निर्गुण के उपासक हैं। सगुणोपासना का फल भिन्न है और निर्गुणोपासना का भी फल भिन्न है। मनुष्य स्वभावतः नामरूपात्मक जगत में ही लगा हुआ है। नाम रूप से परे नाम रूप रहित तत्त्व के जानने में असमर्थ होता है इसीलिये सगुण स्वरूप का उपदेश वेद एवं तत्वज्ञ गुरुओं ने किया है। भक्ति भावना की सुगमता को लक्ष्य करके अनेक आगमिक मन्त्रों द्वारा परमात्मा के साक्षात् करने के उपाय शास्त्रों में कहे गये हैं जिनका परिणाम सम्भूति या सगुण

उपासना है । उपासक की भावना के अनुसार परमात्मा अपनी अनुग्रह शक्ति से साधक को अपना स्वरूप सगुण रूप में प्रकट करता है जिससे उसके गुण रूप व्यक्त होते हैं जिनका कीर्तन भजन साधक करके अपने को कृतार्थ करता है । ईश्वर के स्वरूप के ध्यान करने को सुगमता इस रीति में बताई गई है । निर्गुण रूप कठिन एवं दुःख साध्य है । इसीलिये गीता में क्लेशोधिकतरस्तेषाम्' क्लेश की अधिकता ही अधिक अंधेरा है । जिसका साक्षात्कार प्रशस्त योगियों द्वारा ही साध्य है । सगुण रूप एक देशीय होने से यह भूल हो सकती है कि परम तत्व एकदेशीय है इसलिये दोनों की एकता मन्त्र में बताई गई है । वास्तव में सगुण रूप निर्गुण ने ही धारण किया है दोनों रूप भिन्न नहीं है । जैसे पानी और बर्फ एक ही है । अवस्था भेद से दोनों पृथक प्रतीत हो रहे है । गीता के बारहवें अध्याय में दोनों स्वरूपों की एकता बताई गई है । बाद में प्रतीकोपासना भी सगुण के अङ्ग रूप में प्रचलित हुई । विशेषतः यह प्रकार आगम शास्त्र पर ही आधारित है । ये दोनों प्रकार मनुष्य की यथार्थता को बताने के लिये ही माने गये हैं । परन्तु समय के फेर से ईश्वर उपासना के ये प्रकार तथा इनका रहस्य इस समय मनुष्य भूल चुके हैं अब केवल जीविका के साधन मात्र ही रह गये हैं । धार्मिक आचार्यगण इधर ध्यान दें तो इसमें सुधार हो सकता है ।

:—०:—

[७६]

समन्या यन्त्युपयन्ति अन्याः समान पूर्वं नद्यः स्पृणन्ति ।
तमूं शुचि शुचयोदी दिवांसमपाननपातमुपयन्ति आपः ॥

(सामवेद पूर्वाचिक अ. ६)

शब्दार्थ—अन्य अनेक नदियां बहती जा रही हैं उनमें कुछ ही अपने प्राप्तव्य स्थान को प्राप्त होती हैं यद्यपि इनका प्रवाह समान पूर्व है अर्थात् एक सा है । शुचि पवित्र गंगादि नदियों का जल नीचे की ओर प्रवाहित होकर अन्त में समुद्र में मिल जाता है ।

व्याख्या

अनेक प्राणी अपनी अपनी प्रवृत्ति के अनुसार कर्त्तव्य कर्म कर रहे हैं तथापि कार्य सिद्धि सबको नहीं प्राप्त होती । सिद्धि तो किसी को ही मिलती है जिनमें अदम्य उत्साह एवं त्याग होता है वही सर्व सिद्धि प्राप्त करते हैं । नदी के दृष्टान्त से इसे ही बताया गया है । भाष्यकार सायण ने नदी के जल समुद्र में मिलने पर वडवानल (समुद्रीय अग्नि) की दीप्ति को बताया है । इस मन्त्र के एक और टीकाकार ने दान की महिमा बताया है । ये दोनों अर्थ किसी प्रकार मान भी लिए जा सकते हैं तथापि कर्त्तव्य की मुख्यता मानना अधिक उपयुक्त है; क्योंकि जगद व्यवस्था करने में क्रिया तत्त्व प्रमुख है परमात्मा की इच्छा से सबसे पहले कर्म ही हुआ 'कर्म प्रधान विश्व करि राखा' (तुलसीदास) और ज्ञान शक्ति ने उसकी व्यवस्था की । आसक्ति या रागतत्त्व से जीव फल की इच्छा

से कार्य कर रहा है सभी जीवों की प्रवृत्ति एकसी नहीं है इसी अभिप्राय को मन्त्र में बनाया गया है कि सभी को सफलता नहीं मिलती है अर्थात फल कामना से रहित जो कर्त्तव्य करते हैं उन्हें ही कामयाबी मिलती है 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' 'हे मनुष्य कर्म में ही तेरा अधिकार है, फल में नहीं' ऐसा श्री मद्भगवत्गीता' में कहा गया है। कामना प्रयुक्त कार्य करने वाले को अज्ञ मूढ़ बताया गया है। कामना प्रयुक्त कार्यों में मनुष्य को बहुत अधिक श्रम करना पड़ता है और फल थोड़ा मिलता है। इसलिए गीता में इसे हेयकोटि में गिना गया है। निष्काम कर्म में (फल त्याग पूर्वक जो कर्म) थोड़ा परिश्रम एवं महान फल होता है।

'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्' थोड़ा भी निष्काम धर्म महान भय से मनुष्य की रक्षा करता है। 'समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत' समुद्र में जैसे जल मिल जाता है। यह गीता का सिद्धान्त मन्त्र के साथ एकता के समर्थन में कहा गया है। ऐसे ही कर्म कर्त्ता शान्ति को प्राप्त करते हैं। काम की इच्छा करने वाले को शान्ति नहीं मिलती। मैं और मेरा में ही लगे रहने वाले जीव संसार चक्र में ही घूमते रहते हैं। गंगादि नदियों का जल नीचे–नीचे बहता हुआ समुद्र की प्राप्ति होने पर समरूप में हो जाता है ऐसा ही कर्मयोगी समत्व प्राप्त कर लेता है। विषमता तो लौकिक कामनाओं की वजह से है।

—:o:—

[७७]

स्त्रियः सतीस्ताँ उ पुंस आहुः
पश्यदक्षण्वान्नविचेतदन्धः ।
कविर्यः पुत्रः स ईमाचिकेत यस्ता
विजानात् सपितुष्पितासत् ॥
(ऋ० २-३)

शब्दार्थ—पालन करने वालो आदित्य की रश्मियों को मन्त्र में स्त्रियः कहा गया है। स्त्री होते हुए उन्हें पुरुष कहते हैं। उन्हें प्रशस्त ज्ञानी ही जानते हैं विवेकहीन अन्धे नहीं जान सकते। ऐसे ही पुरुष को कवि कहते हैं। वही सबका रक्षक होने से पुत्र है। उसका (रश्मियों का) जानने वाला सबके पिता का पिता हो जाता है।

व्याख्या

आदित्य या सूर्य को आधिदैविक जगत् का प्रकाशक माना जाता है। उसकी अनेक प्रकार की किरणें हैं। उसकी पालन या पुष्टिकारक रश्मियों को मन्त्र में "स्त्रियः" पद से कहा गया है। यह रश्मि शब्द पुलिङ्ग है तथापि मन्त्र में स्त्रीलिङ्ग बताया गया है। रश्मि सूर्य की शक्ति है। जैसे चन्द्रमा की शक्ति प्रभा है। शक्ति शब्द स्त्रीलिंग है। पालन पोषण रक्षा आदि गुण शक्ति पदार्थ में मुख्य होने से उसे स्त्रीलिंग रूप से माना गया है। वास्तव में लिंग ज्ञान का कोई खास नियम न होने से स्त्रीलिंग में रश्मि का व्यवहार हो

सकता है। जैसे अग्नि और आत्मा शब्द भाषा में स्त्रीलिंग एवं संस्कृत में पुलिंग है।

शरीर में ७२००० हजार नाड़ियां मानी गयी हैं उनमें इन सूर्य किरणों का सम्बन्ध होता है। खाये पिये सभी पदार्थों का परिपाक इनके द्वारा ही होता है। इसे अध्यात्मवेत्ता ही जानते हैं। वैद्य हकीम डाक्टरों ने भी इसो से मिलता जुलता नाड़ियों का योग बताया है। सूर्य किरणों से अनेक रोगों की चिकित्सा भी की जाती है—"आरोग्यं भास्कराद् इच्छेत्" इस प्रमाण से समस्त प्राणियों को सूर्य आरोग्य प्रदान करता है; ऐसा प्रमाणित होता है। "सूर्य नमस्कार" नामक प्रयोग भी आरोग्य देने वाला है। इसोलिये किरणों को पालन करने वाला कहा गया है।

ज्योतिष्मती नाम की औषधि भी सूर्यलोक से ही भूलोक में आयी है, जो कि समस्त रोगों की औषधि है। इस औषधि में भी सूर्य किरणों का प्रभाव है। नेत्र व्याधि की तो अपूर्व औषधि है; यह दिव्य दृष्टि प्रदान करती है। इसी बात को मन्त्र में कहा गया है कि इसे दिव्य दृष्टि वाले ही जानते हैं इसे अन्त: चक्षुविहीन नहीं देख सकते हैं।

वेदों का सार गायत्री मन्त्र भी सूर्य का ही मन्त्र है। इसके अभ्यास से बुद्धि का वैभव बढ़ता है जिससे योगी एवं ज्ञानी लोग विश्व की सारी बातों को जान लेते हैं; तथा अध्यात्म वेत्ता भी हो जाते हैं। सूर्य को प्रजा का प्राण उपनिषद् में बताया गया है। इसी से सब प्राणी जीवन धारण करते हैं।

ईश्वर के पांच सगुण रूप (शिव, शक्ति, गणेश, विष्णु, सूर्य) में सूर्य की भी एक प्रमुख उपासना है। सूर्य की महान शक्ति ज्ञान रूप वाली तारा है जिसके आराधन से कवि हो जाता है। सबका त्राण या रक्षा करने से उसे पुत्र भी कहा जाता है। उसकी ज्ञान प्रद किरणों को जानने वाला पिता स्वरूप सब देवताओं का भी पिता हो जाता है, और सुषुम्ना रूप सरस्वती के द्वारा षट्चक्र भेदकर के जीवात्मा पर ब्रह्म जो कि सबका पिता है, जिसने समस्त सृष्टि को पैदा किया है, उसके स्वरूप में अद्वैत अभेद स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। अर्थात् सब देवताओं का पिता बन जाता है।

संक्षेप रूप में मन्त्र का सार बताया गया इसके और भी अनेक अर्थ हैं जिन्हें विस्तार भय से नहीं लिखा जा सकता। मन्त्रार्थ को मनन करने वाले इसे सुगमता से जान सकते हैं।

---

[७८]

बोधामे अस्य वचसो यविष्ठय मंहिष्ठस्य प्रभृतस्य स्वधावः
पीयतित्वो अनुत्वो गृणाति वन्दारुस्ते तत्वं बन्दे अग्ने

(ऋ० २, २, १६, २)

शब्दार्थः—हे अग्ने, सदा युवा रूप वाले, भगवन् मेरी महान् वाणी को सुनिये आप भगवद् गुणों से युक्त हो एवं आप सभी भोज्य पदार्थों को देने वाले हो। मेरी स्तुति के जो गुण हैं उन्हें जानिये। असुरों के आप विनाशक हो। मैं असुरपक्ष का त्याग कर दह प्रकाशन रूप वाले आपके विग्रह की स्तुति करता हूँ

व्याख्या

एक व्यापी सर्वज्ञ परमात्मा के ही अधीन सारा संसार व्यवहार कर रहा है। उस परमतत्व के दो स्वरूप हैं एक सामान्य, दूसरा विशेष सामान्य स्वरूप सबका कारण क्रिया शून्य है विशेष रूप सृष्टि का संचालन करने वाला होने से विशेष कहा जाता है उसे ही देवता भी कहते हैं। इन्द्र, वरुण, सूर्य, चन्द्रमा आदि देवताओं के नाम भिन्न-भिन्न कार्य करने की वजह से ही हुये हैं। परब्रह्म परमात्मा के अर्थ में भी इन नामों का व्यवहार होता है क्योंकि विशेष सामान्य से भिन्न नहीं हो सकता। मूलभूत ब्रह्म के दिव्य गुणों का आविर्भाव देवता के स्वरूप में भी है। अतः देवताओं को भी पूजनीय बताया गया है। इसी सिद्धांतानुसार मंत्र में अग्नि के सम्बोधन से उभय स्वरूप में प्रार्थना की गई है। अग्नि सब देवताओं में प्रधान है। इस नाम की व्युत्पत्ति यास्क ने इस प्रकार बताई है—जो सबसे अग्रणी हैं उसे अग्नि देवता कहते हैं। यज्ञादि कार्यों में जिसका ग्रहण प्रधान रूप में होता है। ईश्वर के अग्रणीभूत गुणों का आविर्भाव जिसमें सबसे पहले होता है। इसलिये वह अग्नि कहा जाता है। पार्थिव पदार्थों में दाह एवं प्रकाश रूप में उसकी व्यक्ति होती है। ब्रह्म भी सबका प्रकाशक होने से अग्नि शब्द से कहा जाता है। 'यविष्ठय और मंहिष्ठय' ये दो विशेषण अग्नि के लिये जो मंत्र में प्रयुक्त है ये विशेष रूप से विचारणीय हैं। 'यविष्ठय' का अर्थ सदा युवा रहने वाला है जो कभी भी जीर्ण नहीं होता है ऐसा ही

ब्रह्म का स्वरूप उपनिषदों में बताया गया है। सप्त धातु रूप से परिणत अग्नि तत्व ही के स्वरूप आयुर्वेद में माने जाते हैं। सिद्धों ने एवं वैद्यों ने इसका उपयोग करके वृद्ध जीर्ण शीर्ण शरीरों को भी पुनर्युवापन की प्राप्ति का विधान किया है। आग्नेय बहुत-सी औषधियां भी हैं जिनके गुण भी वनस्पति विज्ञान में माने जाते हैं। जिनसे मनुष्य कल्पौषधि विज्ञान के अनुसार प्रयोग करके सर्वदा युवा बना रहता है ये सब अग्नि के ही गुण हैं इसी अभिप्राय में 'यविष्ठय सम्बोधन का प्रयोग किया गया है।

'मंहिष्ठय' का अर्थ महान होता है। सबसे महान महादेव परमात्मा हैं। चन्द्र, सूर्य, तारे आदि सब अग्नि तत्व के ही रूपान्तर हैं जो कि सारे जगत को प्रकाश प्रदान करते हैं।

योगशास्त्र में त्रिकोण रूप में इसका अभ्यास योगी-जन करते हैं। कारण रूप विन्दु तत्व के साथ त्रिकोण का स्वरूप ही महादेव शिव की उपासना का प्रतीक शैव महात्माओं ने माना है। विदेशियों की अश्लील कल्पना, शिवलिंग उपासना में सर्वथा अवैज्ञानिक है। इसी अग्नि के साथ सूर्य का तादात्म्य मानकर द्वादश ज्योतिर्लिङ्ग माने गये हैं। तैत्तरीय संहिता में अग्नि एवं सूर्य का तादाम्य अनेक मन्त्रों में बताया गया है। सूर्यवंश में उत्पन्न होने वाले श्री रामचन्द्रजी के अलौकिक चरित्र का वर्णन करने वाले महात्मा तुलसीदास ने शिव पूजन श्री राम से करवाया है। इससे इस वैदिक रहस्य की श्री रामचरितमानस से व्यक्ति होती है। सूर्य एवं शिव दोनों के तादात्म्य होने से दोनों के अभेद माने जाते हैं

इस प्रकार दोनों स्वरूपों का सम्मिलन एकता का द्योतक है। मन्त्र द्रष्टा ऋषि ने श्री भगवान अग्नि देव से अपनी स्तुति के गुण जानने के लिये इसी अभिप्राय में निवेदन किया है। असुर लोग अग्नि की उपासना दूसरों को हानि पहुँचाने को करते हैं। क्योंकि उनकी साधना साहंकार होती है इसलिये यह पक्ष त्याज्य कोटि का है। दैवपक्ष ही श्रेयस्कर है। आजकल अग्नि की उपासना आसुर पक्ष को लेकर ही चल रही है अनेक अस्त्र-शस्त्र आग्नेय तत्वों से बनाकर जगत्संहार में ही आधुनिक वैज्ञानिक प्रयत्नशील हो रहे हैं उन्हें अग्निदेव सुबुद्धि प्रदान करें जिससे जगत का कल्याण हो।

---

[७९]

विश्वे देवा मम शृण्वन्तु यज्ञ मुभे
रोदसी अपां नपाच्च मन्म।
मात्रो वचांसि परिचक्ष्याणि वोचं
सुम्नेष्विद् वो अन्तमामदेम॥

(साम० ६-२-७)

शब्दार्थ:—हे विद्वानो आप सब मेरी वाणी को सुनें। द्युलोक तथा पृथ्वीलोकस्थ सभी प्राणियों को भी कहता हूँ। मेरे कथन का तिरस्कार न करो। सुख प्राप्ति कारक जो मैं कह रहा हूं, इससे तुम सब सुखी होगे, तथा हम सब आनन्दित होंगे।

व्याख्या

मन्त्र द्रष्टा ऋषि सारे विश्व को अपनी दिव्य ईश्वरीय वाणी से पुकार कर सुना रहे हैं कि हे मनुष्यो हमारी वाणी सुनो वह वाणी यज्ञ है। यज्ञ सम्बन्धी कथन या उपदेश ही इसका अर्थ है। मनुष्य की सभी प्रकार की उन्नति का ज्ञान यज्ञ द्वारा ही होता है। यह सारा विश्व एक प्रकार का यज्ञ ही है। यास्क ने नाराशंस को यज्ञ बताया है। मनुष्य स्थिर होकर जो कहते हैं उसे ही यज्ञ कहा गया है। यज्ञ शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, तथापि इस मन्त्र में स्थिरचित्त से सत्यार्थ को प्रकाशित करने वाली वाणी का ही अर्थ उपयुक्त है। "स्वाध्याय ज्ञान यज्ञाश्च यतयः शंसितव्रताः" अर्थात् स्वाध्याय, ज्ञान यज्ञ से तीक्ष्ण व्रत वाले यति लोग होते हैं। इस गीता के श्लोक में ज्ञान यज्ञ को बताया गया है; इसी ज्ञान यज्ञ की वाणी का उपदेश सभी मनुष्यों के लिये बताया गया है। ज्ञान के तिरस्कार को मना किया गया है। अर्थात् सर्वदा सत्य भाषण ईश्वरीयोपदेश कर्म ज्ञान और भक्ति का आचरण रूप से करना ही एक मुख्य कर्त्तव्य है। इसमें कभी भी प्रमाद नहीं होना चाहिये। उपनिषद् में "स्वाध्यायान्मा प्रमदः" स्वाध्याय ज्ञान यज्ञ में प्रमाद न करो ऐसी प्रधान शिक्षा दी गई है। ज्ञान रहित मनुष्य और पशु में कोई अन्तर नहीं है; मनुष्य की श्रेष्ठता ज्ञान से ही है। नाम रूप जगत का ठीक व्यवहार और उपयोग ज्ञान द्वारा ही होता है इसका उपदेश वेदों में दिया गया है परन्तु वेदोपदेश मन्त्र रूप में

होने से सर्व साधारण के उपयोग में नहीं आ सकते हैं। इसलिये महान पुराण साहित्य के विस्तार से अनेक आख्यान कथा के द्वारा कहे गये हैं जिससे सर्व साधारण को सुलभ बना दिया गया है जैसे "सत्यं वद" वाक्य कहा गया है जिसका अभिप्राय सत्य बोलने में है। तथापि सत्य का व्यवहार कैसे किया जाता है, इसके व्यवहार के यथार्थ प्रकार के ज्ञान के लिए राजा हरिश्चन्द्र का आख्यान पुराणों में बताया गया है। 'धर्म का पालन करो' इस वाक्य को पूर्ण रीति से समझने के लिये शिवि, दधीच आदि महापुरुषों का चरित्र बताया गया हैं। 'हमारी वाणी सुनो' इस कथन से इन सभी कथाओं को ग्रहण करना चाहिये क्योंकि ये आख्यान उसी सत्य यज्ञ रूपवेद वाणी के विस्तार हैं।

रामायण; महाभारत तथा पुराण ग्रन्थों में इसी का अभिप्राय विस्तार से कहा गया है। इनका श्रवण करने से उक्त अर्थ का स्पष्ट रूप से ज्ञान होता है। महर्षि व्यास ने वैदिक ज्ञान के आधार पर चलने वाले शैव, वैष्णव शाक्त आदि सम्प्रदायों के पुराणों द्वारा एक सार्वभौम अद्वैत मार्ग का पुराणों में वर्णन करके एकता को बताया है। इस प्रकार एक सत्यवाणी के आश्रय से परमसुख की प्राप्ति सभी प्राणियों को होती है। यह एक परम सत्य है। समय के फेर से आज यह विज्ञान वैदेशिक प्रभाव से लुप्त हो रहा है। इसके प्रचार प्रसार के लिये उद्योग होना चाहिये।

---

[८०]

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टि वर्धनम् ।
उर्वारुकमिव बन्धनात् मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् ॥

(यजु० ३–६०)

शब्दार्थ:—सुगन्धि और पुष्टि के बढ़ाने वाले त्र्यम्बक मृत्युञ्जय (शिव) की हम पूजा करते हैं । उर्वारुक खरबूजे का फल जैसे डंठल से अलग टूटकर रह जाता है । इसी प्रकार मृत्यु से हम अलग हो जाँय । हम अमृत या मोक्ष से कभी भी अलग न हों ।

व्याख्या

संस्कृत साहित्य में त्र्यम्बक नाम शिव के लिये व्यवहार किया जाता है । कालिदास ने "त्रियम्बकं संयमिनं ददर्श" ऐसा 'कुमार सम्भव' में लिखा है । वेदांत ग्रन्थों में प्रतिपादित तुरीय तत्व को भी शिव कहा गया है । जिसके साक्षात् से जीव मृत्यु के क्लेश से सर्वदा के लिये छूट जाता है । गन्ध गुण पृथ्वी तत्व का है । सुगन्ध एवं दुर्गन्ध दोनों तत्व पृथ्वी में ही रहते हैं । दुर्गन्ध की अधिकता होने से रोग व्याधि बढ़ते हैं । रोग व्याधि को मृत्यु का परिवार बताया गया है । त्र्यम्बक के स्मरण से सुगन्ध एवं पुष्टि बढ़ती है । पृथ्वी तत्व के साथ शिव के चिन्तन से यह बात होती है जिसे योगीगण जानते हैं । बन्धन रूप रोग से सारे संसार के जीव दुःखी हो रहे हैं । अमृत तत्व के परिचय से ही बन्धन रूप मृत्यु से छुटकारा होता है । इसलिये अमृत से हम पृथक न हों ऐसी

प्रार्थना की गई है। उपनिषदों में अमृत शब्द ब्रह्म के लिये प्रयुक्त हुआ है— 'ब्रह्मसंस्थो अमृतत्वमेति' ब्रह्म में स्थिति प्राप्त करने पर ही अमृत की प्राप्ति होती है। यही अमृत तत्व या अमृत कला औषधि वनस्पति अन्न दुग्धादि सभी पदार्थों में विद्यमान है जिसे ग्रहण करके सभी जीव जीवन धारण कर रहे हैं। शरीर में इस अमृत कला को धारण एवं ग्रहण करने की शक्ति जब मनुष्य में नहीं रहती है तब वह मर जाता है। इस अमृतकला की साधना शास्त्र में अन्नपूर्णा, श्रीविद्या, श्री पीताम्बरा, अमृतेश्वरी आदि नामों से बताया गया है। अनेक असाध्य व्याधियों की निवृत्ति के लिये उक्त त्र्यम्बक मन्त्र का अनुष्ठान मृत संजीविनी त्र्यक्षर मृत्युञ्जय का प्रयोग होता है। रोग निवृत्ति का यह सिद्ध प्रयोग साधक जन जानते एवं करते हैं। कुछ लोग इस मन्त्र का अर्थ आयुर्वेद के अनुसार करते हैं। उनके मत से त्र्यम्बक नाम काम्पिल्य देश में होने वाली अम्बा, अम्बिका, अम्बालिका, नाम वाली तीन औषधियों से है। जिनका समुदाय ही यहाँ पर त्र्यम्बक पद से लेना चाहिए। ऐसा उनका मत है। जिनसे पुष्टि की वृद्धि होती है और विन्दुक्षय से होने वाली दुर्गन्धि निवृत्त होती है।

'यजामहे' पद सेवन करने के अर्थ में है। ये औषधियाँ अग्नि, सूर्य, चन्द्र इन तीनों मण्डलों के तत्त्व से उत्पन्न होती हैं। इनमें सभी औषधियों के गुण रहते हैं। साक्षात् परम्परा सम्बन्ध से ऐहिक, पारलौकिक सभी प्रकार का अमृतत्त्व इनसे प्राप्त होता है। अग्नि सूर्य और चन्द्र ही मृत्युञ्जयशिव के त्रिनेत्र रूप से माने जाते हैं। कश्मीर के स्वतन्त्र तन्त्र में

त्र्यक्षर मृत्युञ्जय मन्त्र को ही त्रिनेत्र बताया गया है। त्र्यक्षर मन्त्र में प्रणव के पश्चात् के दोनों बीजों को अमृत बीज के नाम से तन्त्राभिधान में बताया गया है। इस मन्त्र में अनेक रहस्य हैं उनमें से कुछ ही का यह निदर्शन है। श्री गुरु के उपदेश द्वारा अभ्यास करने से उनका यथार्थ ज्ञान हो सकता है।

—:०:—

[८१]

इदं विष्णु र्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्।
समूढमस्य पांसुरे ॥

(ऋ० १-२२-१७)

शब्दार्थ—नाम रूप से विभक्त इस सारे जगत् को भगवान विष्णु ने तीन प्रकार के अपने चरणों से आक्रान्त कर रक्खा है। उनके तीन पदों में ही यह विश्व अन्तर्भूत है।

व्याख्या

विष्लृ व्याप्तौ इस धातु से विष्णु शब्द बनता है जिसका अर्थ सर्व व्यापक परमात्मा है। उसकी पराशक्ति त्रिगुण स्वरूपवाली है उसकी सत्त्वगुणरूप परावस्था में प्रतिफलित ब्रह्म तत्त्व ही विष्णु कहा जाता है। इस सत्त्वगुण का परिचय ज्ञान एवं आनन्द रूप से होता है। भगवान विष्णु में ज्ञान एवं आनन्द का पूर्ण विकास है। रज एवं तमोगुण में विकसित स्वरूप ब्रह्म एवं रुद्र कहे जाते हैं। इच्छा ज्ञान क्रिया रूप से

व्यक्त शान्ता अक्षोभ्य रूपवाली महाशक्ति विलोम क्रम से रुद्र, विष्णु ब्रह्मा के स्वरूप को बनाती है। ये तीनों देव उक्त विष्णु स्वरूप से पश्चात् भावी है। इच्छाशक्ति में प्रतिफलित स्वरूप स्वच्छ स्वरूप वाला होने से परमात्मा विष्णु के ही सदृश्य है। उसे महारुद्र संज्ञा दी जाती है। श्री विष्णु को हरि एवं महारुद्र को पुराणों में हर नाम से व्यवहृत किया गया है। दोनों स्वरूपों की प्रकृति एक हृञ् धातु है केवल प्रत्यय मात्र से भेद प्रतीत हो रहा है। ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र ही 'त्रेधानिदधेपदम्' से मन्त्र में कहे गये हैं। यास्क ने विश् धातु से विष्णु का अर्थ बताया है जो सारे जगत् में प्रविष्ट हो रहा है यह विश धातु का अर्थ है।

शाकपूणि आचार्य के मत से पृथ्वी अन्तरिक्ष और दिवलोक का ग्रहण त्रेधापद से लिया गया है। प्रकृति के स्थूल परिणामों के कारण वह नहीं दिख रहा है। जो विद्वान् हैं वही विष्णु के परम पद को देखते हैं। पृथ्वी अन्तरिक्ष और दिवलोक से जो परे है ब्रह्मा विष्णु और रुद्र से भी जो परे है वही विष्णु का परमपद है। वेद के वैष्णव सूक्तों में यह तत्त्व बताया गया है। यही कठोपनिषद् तैत्तरीयारण्यक के महानारायणोपनिषद् में नारायण नाम से कहा गया है। विष्णु पुराण इसकी विशद व्याख्या करता है। उपासकों में पंचरात्र तन्त्र के नाम से साधना के उपयोगी तत्त्वों का योग कर दिया गया है। श्रीमद्भागवत पुराण प्रेमतत्त्व की व्याख्या करता है। वासुदेव, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, संकर्षण इन चारों व्यूहों के द्वारा भागवत धर्म का विस्तार किया गया है।

श्रीमध्वाचार्य के मत से नारायण का भी व्यूह मानकर चतुर्व्यूह की जगह पर पंचव्यूह माना गया है। तत्त्वत्रय ग्रन्थ में वैष्णव सिद्धान्त का रहस्य बताया गया है। इस प्रकार नारायण, वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध ये पंच व्यूहों के नाम हैं। सूर्यसिद्धान्त नामक ज्योतिष ग्रन्थ में प्रथम के तीन व्यूह और चौथा सूर्य को माना गया है। सूर्य भी विष्णु का ही स्वरूप है। महाभारत के विष्णु सहस्र नाम में भी चतुर्व्यूह का सिद्धान्त माना गया है। जैसे शैवों के पंच ब्रह्म मन्त्रों का मूल वैदिक है ऐसा वैष्णवों का यह चतुर्व्यूह सिद्धान्त वेद मन्त्रों में नहीं है। श्री शंकराचार्य ने वेदान्त दर्शन के द्वितीयाध्याय के द्वितीय पाद के अन्त में इस सिद्धान्त को अवैदिक बताया है श्रीबल्लभाचार्य ने इसे पौराणिक अङ्गीकार किया है। विष्णु के अवतारों की कथा भी वेदों में नहीं देखी जाती। ऋषभदेव, बुद्ध का स्वीकार भी वैष्णव मत में किया गया है जिन्हें अवैदिक ही कहा जाता है। समय के अनुसार बहुत सी बातें वैष्णवमत में मान ली गई हैं। साकार रूप से व्यक्त श्रीराम, श्री कृष्ण अवतारों को ही इस समय श्रीविष्णु का स्वरूप मानकर पूजा अर्चा की जाती है।

सूर्य एवं चन्द्रमण्डल से व्यक्त द्वादश एवं षोडश कलाओं का सम्बन्ध इन अवतारों से किया गया है तथा इनकी साधना का निर्माण भी तन्त्रों में किया गया है। सत्वगुण से व्यक्त ज्ञान एवं प्रेमतत्व का सम्बन्ध इन दोनों अवतारों में किया गया है। श्रीराम के साथ ज्ञानात्मक कलायोग है इसलिये इनके साथ आनन्द का योग न्यून रूप में है। चन्द्रकला योग

से इन्हें भी श्री रामचन्द्र नाम से कहा जाता है तथापि सूर्य चन्द्रकलाओं का साहचर्य एक काल में न होने से आनन्द या प्रेमतत्व का विकास न्यून ही रहा है। चन्द्रवंश में उत्पन्न श्रीकृष्ण के साथ चन्द्र की षोडश कलाओं का योग होने से पूर्ण पुरुषोत्तम रूप में माना गया है। इसीलिये भागवतकार ने 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' ऐसा कहा है। तत्वत्रयग्रन्थ में इन दोनों अवतारों को ही प्रमुखता दी गई है। 'सर्व विष्णुमयं जगत्' वह सब संसार विष्णुमय है ऐसा सिद्धान्त होने से वैष्णवों का तात्विक सिद्धांत अद्वैत है। बाद के अर्वाचीन वैष्णवों ने शुद्धाद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, एवं द्वैत रूप में वैष्णव सिद्धांत की व्याख्या करके चार सम्प्रदायों में वैष्णव सम्प्रदाय विभक्त हो गया है तथापि विष्णु के स्वीकार में मतभेद नहीं है।

सूर, तुलसी आदि सन्तों ने भक्ति के सिद्धांत का प्रचार इन्हीं दोनों भगवत्स्वरूपों द्वारा किया है जिससे भारतवासियों को आज भी ईश्वर की भक्ति एवं राष्ट्रीय जीवन प्राप्त हो रहा है।

---

[८२]

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे
सप्तरक्षन्ति सदमप्रमादम् ।
सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जागृतो
अस्वप्नजौ सत्र सदौ च देवौ ॥
(य. ३४–५५)

शब्दार्थ--सात ऋषि सदा ही शरीर में व्यवस्थित हैं ये सातों सदा ही प्रमाद रहित होकर रक्षा करते हैं। जब जीवात्मा निद्रावस्था में जाता है तब लोक (जीवात्मा) में लीन होकर ये रहते हैं उस समय इनके बाहरी व्यवहार बन्द रहते हैं तथापि जीवन प्रदाता प्राण एवं अपान जागते रहते हैं।

व्याख्या

संस्कृत व्याकरण की ऋषी गतौ धातु से ऋषि शब्द बना है जिसका अर्थ ज्ञान होता है वेदमन्त्र के द्रष्टाऋषियों के अर्थ में भी ऋषि शब्द का व्यवहार इसी अर्थ में होता है। परन्तु इस मंत्र में पंच ज्ञानेन्द्रिय मन और बुद्धि के अर्थ में सप्त ऋषि शब्द आया है। ये सातों ज्ञान के साधन होने से ऋषि पद से कहे गये हैं। अत्रि वशिष्ठ आदि सप्त ऋषि ज्ञान में प्रमुख होने से ऋषि रूप में माने गये हैं। ज्ञानार्थक धातुओं का गति अर्थ होने से सात तारे भी सप्त ऋषि के नाम से प्रसिद्ध हैं। त्रिगुणमयी परमात्मा की ज्ञान शक्ति के अंश ही भिन्न-भिन्न रूप में ज्ञानेन्द्रियों के प्रकाश के विषय हैं।

ईश्वर के संकल्प से जब क्रियाशक्ति आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी के सूक्ष्म रूपों को बनाती है तब उनमें प्रतिफलित ज्ञानशक्ति ही श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना और घ्राण के नाम से पंचेन्द्रियां प्रकट होती हैं। इन पंचतत्त्वों के सात्त्विक अंश से पांचों इन्द्रियां बनती हैं। क्रियाशक्ति में प्रतिफलित हस्त पदादि पंच कर्म इन्द्रियां बनती हैं। पांचों तत्त्वों के राजस अंश से इनकी उत्पत्ति होती है इसलिये इन्हें भी पांच संख्या दी गई हैं। ये कर्मेन्द्रियां क्रिया के द्वारा ज्ञानेन्द्रियों की सहायता करती हैं किसी भी बाहरी ज्ञान करने में इनकी सहायता अनिवार्य है तथापि प्रमुख न होने से मंत्र में इन्हें नहीं गिनाया है। मन और बुद्धि की एकता करके गीता में "मनः षष्ठानीन्द्रियाणि" ये ६ संख्या में ही गिनाये गये हैं। जगत की स्थूलता तमोगुण से बनी है उसी का परिणाम हम सबों की स्थूल देह है। तमोगुण के आधार पर ही ज्ञान क्रिया इन दोनों शक्तियों की अभिव्यक्ति होती है। इसलिए सृष्टि को त्रिगुणमयी भी कहते हैं। चित्शक्ति का परिणाम सत्त्व एवं रजोगुण में होने से ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। जीवात्मा चेतन रूप से समष्ठि एवं व्यष्टि जगत में अहं रूप कर्त्तापन से युक्त होकर जगद् व्यवहार का संचालक है। समष्टि में इसके तीन नाम दिये गये हैं। ईश्वर हिरण्यगर्भ एवं विराट जिन्हें कहते हैं। वास्तव में एक ही के ये तीन नाम हैं। स्थूल जगत का व्यवहार करने से विराट, सूक्ष्म का सञ्चालक होने से हिरण्यगर्भ, एवं कारण रूप से ईश्वर कहा जाता है। स्थूल

जगत के व्यवहर्त्ता जीव को विश्व, सूक्ष्म को तैजस, एवं सुषुप्ति के अभिमानी को प्राज्ञ कहते हैं। यह विषय माण्डूक्योपनिषद् में स्पष्ट रूप से आया है। सूक्ष्म शरीर जिसमें प्राण मन बुद्धि इन तीनों की स्थिति है जब निद्रावस्था आती है तब बाहरी स्थूल जगत के व्यवहार छूट जाते हैं। मन अपनी सत्ता संस्कार से अनेक प्रकार की सृष्टि बनाता है और बुद्धि द्वारा इसका अनुभव करता है। यह प्रकाशमय अवस्था होने से जीवात्मा को इस अवस्था में तैजस संज्ञा दी जाती है। कारणावस्था में मन बुद्धि भी प्रकृति में लीन रहते हैं प्रकृति पुरुष में छिप जाती है ऐसी अवस्था में शरीर का धारण प्राण करते हैं क्योंकि तामसी आवरण के वशीभूत जैसे मन बुद्धि हैं वैसे प्राण नहीं हैं इसे ही जागतादेव कहते हैं। जीवात्मा चितशक्ति का ही रूपान्तर है अपने असली स्वरूप के पहिचानने पर बन्धन रहित होकर मुक्त हो जाता है। जीवात्मा के लिये लोक शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया गया है। प्राणतत्व चेतनशक्ति का ही रूपान्तर है। प्राण से ही सारे जगत का चेष्टात्मक व्यवहार चल रहा है। समा का सञ्चालक हिरण्यगर्भ या सूत्रात्मा कहा जाता है ज चितशक्ति का व्यक्तात्मा है इसीलिए प्राण निरोध से मन क निरोध योगियों ने किया है। प्राण के ही अधीन सारा विश्व है। इसलिये इस जीवन यज्ञ में सदैव वह जागता रहता है। प्रश्नोपनिषद में प्राण की श्रेष्ठता को आख्यान द्वारा समझाया गया है।

—:o:—

[८३]

यज्ञैरथर्वा प्रथमः पथस्तते ततः
सूर्यो व्रतपा वेन आजनि ।
आगा आजदुशना काव्यः स चा
यमस्यं जातममृतं यजामहे ॥
(ऋ. १-८३-५)

शब्दार्थः—स्थिरचित योगी या राजा श्रेष्ठ बनकर अपने साधन मार्ग या राज्य व्यवस्था को विस्तृत करता है। सूर्य के समान तेजस्वी अपने यम नियमानुसार चलाने से सर्वलोक का प्रिय हो जाता है। वही उशना तथा क्रान्तदर्शी होता है। यम नियम के पालन से तथा प्रजा को उत्तम मार्ग पर ले चलने से अमृत होता है। इसलिये हमें उसकी सङ्गति करनी चाहिये।

व्याख्या

अपने यथार्थ निश्चय से न डिगने वाले को अथर्वा कहते हैं। थर्व गतौ धातु से थर्वा शब्द बनता है। जिसका अर्थ सदैव चलायमान होता है, उससे रहित होने से उसे अथर्वा कहते हैं। योगी एवं राज्याधिकारी के लिए मुख्यतः इसका प्रयोग होता है। इन बातों से युक्त होने से चौथे वेद को भी अथर्व वेद कहते हैं। अथर्ववेद की श्रेष्ठता इस ऋग्वेद मन्त्र में अथर्वा पद से स्वीकार की गई है। यज्ञ का अर्थ सङ्गतीकरण दान

और पूजा होता है इन तीनों बातों को प्रथम अर्थात् मुख्य रूप से जो सम्पादन करता है, उसे ही अथर्वा कहते हैं। चारों वेदों में मुख्य होने से उसके ज्ञाता को ब्रह्मापद से यज्ञानुष्ठान में माना जाता है। ब्रह्मा और अथर्वा एक ही वस्तु है। इसी लिये पुराणों में ब्रह्मा के चार मुख बताये गये हैं। जो स्थिरता के सम्पादक योग एवं राज्य व्यवस्था तथा यज्ञानुष्ठानादि के सम्पादक पद से गृहीत होता है। तीनों वेदों की क्रियाओं का साधक होने से वेदों में अथर्ववेद को नवीन बताने वाले विदेशियों का कथन यथार्थ नहीं है। प्रथम पद मन्त्र में मुख्यता का बताने वाला है। मुण्डकोपनिषद् में अथर्वा को ब्रह्मा का ज्येष्ठ पुत्र बताया है जो सृष्टि के आदि में होने से प्रथम है उसी ने यज्ञों तथा राज्य की पद्धतियों का सर्वप्रथम निर्माण किया है। जिसका निरूपण अथर्व वेद में किया गया है। यम नियमादि व्रतों के पालन से जैसे सूर्य के समान तेजस्वी होकर चमकता है वैसे ही राजा भी राज्य नियमों के अनुसार चलने से चमकने लगता है उसे उशना या कवि कहते हैं। क्योंकि उसकी सारी कामनायें पूर्ण हो जाती हैं। क्रान्तदर्शी होने से वह कवि है। सर्वसाधारण जिसे नहीं देख सकते; उसे वह जान लेता है दैत्यगुरु शुक्राचार्य के लिये भी इन दोनों शब्दों का प्रयोग किया जाता है। राज्यनीति में शुक्रनीति प्रसिद्ध ही है। असुर पक्ष को शासन में चलाने से यह पदवी उन्हें प्राप्त हुई थी। यम नियम की ऐसी महिमा है, कि राजा एवं योगी दोनों को अमृत पद की प्राप्ति इससे होती है। अमृत का अर्थ योगी को मोक्ष एवं राजा को यश

कीर्ति के द्वारा लोक में अमृतपद की प्राप्ति हो जाती है जिसको कीर्ति का गान संसार में बराबर होता रहता हैं। ऐसे पुरुष का यशः काय सर्वदा वर्तमान रहता है। रामायण, महाभारत ग्रन्थ ऐसी ही गाथाओं से भरे हैं। उसी के लिये मन्त्रोपदेश दिया गया है कि हम सबको उसके लिये एक होकर प्रयत्न करना चाहिये। इस क्षण भंगुर जीवन में यही सार है।

[८४]

अप ज्योतिषा तमो अन्तरिक्षादुद्गः

शीपालमिव वा आजत्।

वृहस्पतिरनुमृश्या वलस्याभ्रमिव

वात आचक्र आगाः॥

(ऋ० १०-६८-५)

शब्दार्थः—जल को आच्छादित करने वाला शैवाल (एक प्रकार का आच्छादित घास) को वायु अपनी प्रचण्ड गति से हटा देता है। अन्तरिक्ष में फैले हुये अन्धकार को जैसे सूर्य ज्योति नष्ट कर देती है, तथा वायु जैसे मेघ रूप आवरण को नष्ट कर देता है। इसी प्रकार वृहस्पति वाणी रूप के उपदेश देने वाले देवगुरू अज्ञान को हटाकर यथार्थ मार्ग का दर्शक होता है।

व्याख्या

हृदय में रहे हुये भावों को अभिव्यक्त करने वाले शब्द साधन को वाणी के नाम से शास्त्र में व्यवहार किया जाता है—"परा, पश्यन्ती, मध्यमा, और वैखरी के नाम से यह वाणी तत्व चार प्रकार का है। परन्तु सर्व साधारण के व्यवहार को बताने वाली वाणी वैखरी है। जो कुछ भी जगत में व्यवहार हो रहा है वह सब वैखरी का विषय है। अवशिष्ट तीन केवल योगियों की जानकारी के विषय हैं। इसलिये सामान्य व्यवहार में उनका उपयोग नहीं होता है। इन चारों वाणियों के तत्व को जो जानता है वही वृहस्पति देवगुरू के नाम से व्यवहृत होता है। ऐसा पुरुष ही यथार्थ उपदेष्टा हो सकता है। उसी के कथन का प्रभाव पड़ता है जो लोग मन में रहे हुये भावों को छिपा कर केवल बनावटी बातों से कथन या व्याख्यान देते हैं; उनका कथन व्यर्थ ही चला जाता है और अन्य लोगों में अविश्वास पैदा होता है। यह एक प्रकार का मिथ्या भाषण लोक तथा आत्म वञ्चना ही है। वाणी के तप द्वारा जब तक हृदय पवित्र नहीं होता; तब तक कुछ भी कहना निरर्थक ही है। मन्त्र में कहे हुये तीन उदाहरणों से वाणी का यथार्थ स्वरूप बताया गया है। सत्य, प्रिय और हित वचन का व्यवहार करने का ही प्रयत्न वाणी का तप कहा गया है। इस प्रकार संयतवाणी ही यथार्थ को प्रकट करती है। उसी से मनुष्य का हित होता है ऐसी वाणी का प्रयोक्ता ही वृहस्पति है। धार्मिक, व्यावहारिक, राजनैतिक

जटिल समस्याओं का हल यथार्थ रूप में इससे ही होता है। यह तत्व सर्वत्र व्यापक होने पर भी प्रत्येक प्राणी की बुद्धि में वर्तमान है उसी से किसी भी जटिल प्रश्न का उत्तर मनुष्य कर सकता है। संसार के सभी जीवों से अधिक मात्रा में यह तत्व मनुष्य में है। मनन या तर्क द्वारा किसी भी वस्तु का स्वरूप निश्चय करना इसका प्रधान कार्य है इसीलिये इसे मनुष्य नाम दिया गया है। तमोगुण के आवरण से बुद्धितत्त्व पर आवरण आ जाता है इससे उसका वास्तविक स्वरूप छिप जाता है जैसे शैवाल से जल का स्वरूप ढक जाता है तथा अंधेरे से प्रकाश नहीं दृष्टिगोचर होता है एवं मेघ जैसे सूर्य को आच्छादन कर लेता है ऐसे ही अज्ञान ज्ञान को ढक लेता है। गीता में कहा है—'अज्ञानेनावृतंज्ञान तेनमुह्यन्ति जन्तवः' अर्थात् अज्ञान से ज्ञान का आवरण होने से ही जीव मोह में पड़ जाता है। ऐसी अवस्था में सर्वगुरू वृहस्पति ही अपनी दिव्यवाणी द्वारा उपदेश देकर जीव का कल्याण करते हैं। संक्षेप में मन्त्रार्थ का तत्व इसी अर्थ का बोधक है।

—:o:—

(८६)

यमः परोऽवरो विवस्वान् ततः
परं नाति पश्यामि किंचन ।
यमे अध्वरो अधिमे निविष्टो भुवो
विवस्वानन्वाततान ॥
(अथर्व० १८-२-३२)

शब्दार्थः—नाम रूप से फैले हुये इस जगत का सबसे नियन्ता परमात्मा है। सूर्य भी उससे छोटा मैं उससे परे और कोई वस्तु नहीं देखता हूँ जो यज्ञादि कर्म करता हूँ; वह सब उसी को समर्पित हैं। अनेक लोकों का प्रकाश करने वाला सूर्य भी उसी एक ईश्वर की आज्ञा का वशवर्ती है।

व्याख्या

एकेश्वरवाद का प्रतिपादक यह मन्त्र है। इसी भाव के बताने वाले उपनिषदों में अनेक मन्त्र हैं। मुण्डकोपनिषद में कहा गया है—'ईश्वर तत्व को न सूर्य प्रकाशित कर सकता है न चन्द्रमा, न तारा आदि। यह लौकिक अग्नि उसके प्रकाशन में कैसे समर्थ हो सकता है अतः वह स्वतः प्रकाश है, शेष सारे पदार्थ उसी के प्रकाश से प्रकाशित होने से परतः प्रकाश हैं। एकेश्वरवाद वेद का अन्तिम सिद्धान्त है, इसे ही वेदान्त कहा जाता है। जब तक मनुष्य इसे नहीं जानता है तब तक उसका ज्ञान अधूरा ही है। उसके ज्ञान से ही सब

कुछ जाना जाता है। छान्दोग्य उपनिषद में कहा गया है, जिसके जानने से सब कुछ जाना जाता है, वही परम तत्व ब्रह्म या ईश्वर है। मनुष्य रूप में आकर यदि उसे नहीं जाना, तो उसका आना व्यर्थ ही है। राग या कामना के वशीभूत जीवात्मा अविद्या कल्पित संसार को ही सब कुछ मान बैठा है। इसीलिये भ्रान्ति में पड़ा है। अहंकार वश जो कुछ कर्म करता है. वह मुक्ति का हेतु न होकर बन्धन को ही पुष्ट करता है। इसलिए अपने किये हुये सभी कर्म को श्री परमात्मा के समर्पण करने से बन्धन की निवृत्ति होती है इसी तत्व को मन्त्र में बताया गया है, कि मैं जो कुछ कर्म करता हूँ, वह सब उसी के समर्पित है। ऐसा करने से आसक्ति को निवृत्ति होकर मनुष्य संसार से मुक्त हो जाता है। इसीलिये गीता में कहा गया है—"तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर" आसक्ति रहित होकर ही मनुष्य को अपने अपने कर्तव्य करना चाहिये। ऐसा होने पर ही भगवद्भक्ति का उद्भव होता है। जब तक लौकिक विषयों में आसक्ति होती है तब तक भक्ति का उदय नहीं होता। भक्त एक भगवान के सिवाय अर्थात् मन्त्र में कहे हुये तत्व के अनुसार उस परम तत्व के अतिरिक्त और कोई नहीं है। इस बुद्धि पर दृढ़ रहने से ही शान्ति लाभ करता है। अविद्या का ऐसा प्रभाव है कि यह ज्ञान एकसा सदैव नहीं रहता, मनुष्य इसे भूल जाता है तथा उक्त निर्णय के विपरीत आचरण करने लगता है। इससे अविद्या की ग्रन्थि सुलझने के बजाय, और दृढ़ होती जाती है। तथा मन्त्र में कहे हुए सिद्धान्त से मनुष्य

बहुत दूर होता जाता है। वास्तव में समर्पण बुद्धि के बिना ईश्वर तत्व का सामीप्य जीवात्मा को नहीं प्राप्त होता तथा इसके बिना ग्रन्थि का सुलझाना असम्भव ही है। इसी तत्व का निर्णय मन्त्र दृष्टा ने करके सुबोध रूप में बताया है, कि सर्वोपरि एक सत्ता का अनुभव ही सभी आपत्तियों से मनुष्य रक्षक है।

—:०:—

(८७)

स्तुता मया वरदा वेदमाता,
प्रचोदयन्ताँ पावमानी द्विजान ।
आयुः प्राणं प्रजाँ पशुं कीर्तिं,
द्रविणं ब्रह्मवर्चसम्—
महत्रं दत्त्वा व्रजत ब्रह्म लोकम् ॥

शब्दार्थः—मैं द्विजों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) को पवित्र करने वाली तथा समस्त इष्ट फल को देनेवाली, वेदों की माता रूप जननी, पराशक्ति की स्तुति करता हूं। जो भक्ति से प्रसन्न होकर आयु, प्राणशक्ति, सन्तति, पशु, कीर्ति, धन, ब्रह्मतेज हमें देकर कृत कार्य करती है। अतएव हे मनुष्यो ! इन वस्तुओं की प्राप्ति करो तथा अन्त में ब्रह्मलोक भी प्राप्त करो।

व्याख्या

वेदों की माता अपने गर्भ में सभी ज्ञान को धारण करती है और समय समय पर ऋषि महात्माओं द्वारा प्रकट करके

जगत का कल्याण करती है। उसे इसीलिए वेदमाता कहते हैं। उसकी आराधना से मनुष्य सभी वस्तुओं की प्राप्ति करता है। भुक्ति एवं मुक्ति दोनों वस्तुयें उसके हाथ में हैं। गायत्री छन्द में प्रतिपादित अर्थ से उसका बोध होता है इसीलिये गीता में कहा है–'गायत्री छन्दसामहम्' छन्दों में गायत्री मैं हूँ। अनेक जन्मों में किये हुये पापों का प्रायश्चित इससे हो जाता है इसीलिये धर्मशास्त्र में कहा है—कि 'गायत्र्यास्तु जपन् कोटिं ब्रह्म हत्यां व्यपोहति' एक करोड़ संख्या में गायत्री मन्त्र का जप ब्रह्म हत्या ऐसे पापों को भी दूर कर देता है। इसीलिये मन्त्र में 'पावमानो' शब्द आया है। उसकी स्तुति, जप, प्रार्थना से सभी इष्ट वस्तुओं की प्राप्ति होती है। शब्द ब्रह्म रूप ओंकार से सर्व प्रथम इसका आविर्भाव होने से सगुण ब्रह्म का यह वाचक है। पराशक्ति के सात्त्विक भाव की यह बोधक होने से ज्ञान की जननी कही गई है। सगुण ब्रह्म ही संसार का कारण है। संसार की सारी वस्तुयें इससे उत्पन्न हुई हैं इसलिये वेदमाता के स्वरूप को जानने वाला सारे विश्व का ज्ञाता हो जाता है अर्थात् संसार एवं परमार्थ दोनों ही उसे मिल जाते हैं। मन्त्र में दोनों का संक्षेप में निर्देश किया गया है उनमें पहली वस्तु आयु है जीवनकाल का एक परिणाम वेद में बताया गया है—'जीवेम शरदः शतम्' हम सौ वर्ष तक जीते रहें परन्तु सौ वर्ष तक जीने वाले इस समय विरले ही है इसका कारण अनेक पापाचरण हैं जो मनुष्य को अल्पायु कर देते हैं। उन सभी पापों की निवृत्ति गायत्री मन्त्र द्वारा होने से तथा आयु दान करने से

मन्त्र में पहले पहल कहा गया है। प्राण प्रवाह शरीरों में अविच्छिन्न रूप से सविता द्वारा होने से जीवनकाल बढ़ता है। जीवनकाल बढ़ भी जाय तथापि क्रियाशून्यता रहे और खाट पर ही पड़े रहें तो वह जीवनकाल व्यर्थ ही है। इसलिये प्राण की याचना की गई है। प्रकृष्ट उत्तम चेष्टा वाला होने से उसे प्राण कहते हैं इसलिये जीवनकाल के साथ साथ प्राण शक्ति का सुचारु व्यवहार भी होते रहना आ[illegible]क है। तीसरी वस्तु प्रजा है प्रजा का अर्थ संतति होता है [illegible]न्तति आयु एवं प्राण शक्ति का पूरक है। यदि योग्य सन्[illegible] न हो तो दोनों वस्तुयें व्यर्थ ही हैं। इसकी प्राप्ति के लिये [illegible]दिक यज्ञों में पृथक अनुष्ठान भी बताये गये हैं। तथापि इसकी प्राप्ति भी वेदमाता द्वारा होती है। चौथी वस्तु पशु है पशु शब्द के अनेक अर्थ हैं तथापि जीवनोपयोगी गौ भैंस आदि का ही ग्रहण करना ठीक है पशुओं की सृष्टि मनुष्य जीवन के साथ सम्बन्धित है। इसे पुरुष सूक्त में वेद ने बताया है इसलिये उसकी प्राप्ति पशुपालन के द्वारा ही कर्त्तव्य है। पशु हिंसा से देश एवं राष्ट्र को क्षति पहुंचती है जिसका अनुभव प्रत्येक भारतवासी को हो रहा है। घी दूध का अभाव होने से मनुष्य के स्वास्थ्य गिरते जा रहे हैं इससे बुद्धि एवं बल का ह्रास प्रतिदिन हो रहा है। मनुष्य की समृद्धि का एक कारण पशु भी है इसीलिये मन्त्र दृष्टा ने इसे बताया है। इन उक्त वस्तुओं की प्राप्ति होने पर भी यदि कीर्ति या यश न हो तो वह भी मरण के ही तुल्य है। नीतिकार ने बताया है—"कीर्ति यस्य सजीवति" जिसकी कीर्ति है वही पुरुष जीता

है। मनुष्य के यशः काय में मृत्यु का प्रवेश नहीं है। गीता में कहा है—"सम्भावितस्य चाकीर्तिमरणादति रिच्यते" प्रतिष्ठित पुरुष की अकीर्ति मृत्यु से भी अधिक है। इसलिये कीर्ति प्राप्त करना मनुष्य जीवन का एक महत्वपूर्ण भाग है। वेद के स्वाध्याय से एक प्रकार का तेज प्राप्त होता है उसे ब्रह्मवर्च कहते हैं। गायत्री मन्त्र का अभ्यास भी एक प्रधान स्वाध्याय है। तपस्वी महात्माओं का वह एक प्रधान द्रव्य है। ऋषिगण इसी धन का संचय करते हैं। अन्त में वेदमाता से प्रार्थना की गई है कि उक्त सभी वस्तुयें हम सबको प्राप्त हों। तथा हे मनुष्यो सब लोग उस अमूल्य ब्रह्मलोक परमात्मा के परम प्रकाश को प्राप्त करो। क्योंकि उभयलोक की प्राप्ति ही इस जीवन का लक्ष्य है और इसका सम्पादन वेदमाता से ही होता है। गायत्री वेदमाता आदि शक्ति को ही कहते हैं वही सर्वश्रेष्ठ तथा सभी सुखों को देने वाली है।

—:०:—

[८८]

इदमु ोऽवसान मागाँ शिवे में द्यावा पृथिवी अभूताम्।
असपत्नाः प्रदिशोमे भवन्तुनवै त्वाद्विष्मो अभयं नोअस्तु॥

(अथर्व० १९-१५-१)

शब्दार्थ—मैं अपने श्रेय मार्ग के अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त होता हूं। द्यौ और पृथ्वी हमें कल्याणकारी रहे हैं। शत्रुगण चारों ओर से हमारे मित्र हों। हम किसी के साथ द्वेष नहीं करेंगे। हमें सबसे अभय प्राप्त हो।

व्याख्या

मनुष्य निर्विघ्न अपने श्रेय की प्राप्ति करे इस तत्त्व को मन्त्र में बताया गया है। इस जीवन में अनेक प्रकार के विघ्न आते हैं जिनसे जीवन यात्रा सदा ही अवरुद्ध रहती है। ापने अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति इसीलिये अनेक वर्षों या अनेक जन्मों में समाप्त होती है। ऐसा होने पर जीवन लक्ष्य प्राप्त पुरुष सारे संसार की मङ्गल क. ा करता है। अहिंसा तत्त्व की पूर्णता इसी अवस्था में हो ै। इसीलिए कहा गया है अहिंसा की प्रतिष्ठा में बैर का ाग हो जाता है। इसीलिए "असपत्नाः" इत्यादि मन्त्र में कहा गया है। राग द्वेष का अभाव होने पर ही यह सम्भव है। यह अहिंसा का साधन सर्वश्रेष्ठ साधन है। अवैध हिंसा का प्रचार होने पर जैन बौद्धों ने इसका प्रचार संसार में किया था। परन्तु यह प्रचार ऊपरी ही हुआ है। वास्तव में यह साधन प्रचार रूप का नहीं है। व्यक्तिगत रूप वाले महात्मा ही इसका आचरण कर सकते हैं। सामुदायिक रूप में इसका प्रचार बहुत ही घातक सिद्ध हुआ है। वीरता ही अहिंसा का मूल है। अहिंसा के प्रचार से कायरता की ही वृद्धि हुई है और शत्रुओं का शत्रुभाव अधिक वृद्धि को प्राप्त हुआ है। इसलिए महावीर, बुद्ध आदि महात्माओं का ही यह धर्म हो सकता है अन्यथा प्रचार से सपत्नभाव की वृद्धि ही का कारण यह साधन हुआ है। हम तुम्हारे साथ प्रीति का व्यवहार करेंगे, द्वेष का प्रयोग नहीं करेंगे। यह भी व्यक्तिगत रूप से ही हो सकता

है। क्योंकि द्वेष की भावना विरोध को जाग्रत करती है उसे दबाकर द्वेषी के हित को करना वीर पुरुष का ही काम है। शान्ति के इच्छुक बहुत से राजनैतिक राष्ट्र हित की दृष्टि से शान्ति और अहिंसा का आश्रय लेते हैं तथापि अन्त में उन्हें भी वीरता का ही आश्रय लेना पड़ता है और शत्रुओं का युद्ध द्वारा विनाश एक प्रकार की अहिंसा ही है जिसे भगवान् श्रीकृष्ण ने महाभारत युद्ध में गीता के उपदेश द्वारा सारे जगत में घोषित किया है। इस रीति से ही अभय की प्र[illegible] होती है। आध्यात्मिक साधक अहिंसा की साधना द्वारा सारे संसार की भलाई अपने प्रेम द्वारा करते हुये ईश्वरीय सन्देश देकर अमर पदवी प्राप्त कर अभय पद को प्राप्त करता है।

अहिंसा के विषय में एक यह भी विचारणीय बात है कि अहिंसा का विरोधी हिंसा भी अस्वाभाविक नहीं है। प्रकृति में भी स्वाभाविक बैर प्राणियों में देखा जाता है जो कि मिटाया नहीं जा सकता, साँप-नकुल, मूषक-बिल्ली, गाय-सिंह आदि जन्तुओं में स्वाभावत: विरोध होता है। परन्तु यह जन्तु भी अहिंसक य[illegible] समीप निर्वैर होकर रहते हैं। यह उन अहिंसा निष्ठ महा[illegible] का ही प्रभाव है स्वाभाविक नहीं। इसलिए संसार में अभय की प्राप्ति उन्हें ही हो सकती है अन्य को नहीं। एकदम आँख बन्द कर अहिंसा का प्रचार हानिकर ही सिद्ध हुआ है, इसमें देश, काल, परिस्थिति का विचार होना आवश्यक है।

—:o:—

(८९)

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि
देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोधि अस्मज्ज [illegible] मेनो भूयिष्ठां
[illegible] नम युक्तिं विधेम ॥
(यजु ४०–१६)

शब्दार्थः—हे अग्नि हमें समृद्धि के लिये सुन्दर मार्ग से ले चलो । हे देव आप हमारे सभी कार्यों को जानने वाले हो । हमारे मार्ग से भ्रष्ट करने वाले कुटिल पापों को नष्ट करो । हम सब आपको बार-बा[illegible] प्रणाम करते हैं ।

व्याख्या

संसार की यात्रा में सुन्दर मार्ग और कुटिल मार्ग दोनों ही मिलते हैं । सुन्दर राज मार्ग से जाने वाला [illegible] प्राप्तव्य स्थान को प्राप्त होता है । कुटिल मार्ग से चलने वाला पथभ्रष्ट होकर भटकता फिरता है और अपने लक्ष्य स्थान को भी नहीं प्राप्त करता इतना ही नहीं बल्कि भटकते हुए अनिष्ट स्थान को भी पहुँच जाता है । इन्हीं दोनों बातों से युक्त हम सबों की जीवन यात्रा हो रही है । इस यात्रा में पथ प्रदर्शक, गुरू परमात्मा आदर्श नेता प्रकाश के स्थान पर जिसे मिल जाते हैं उसका मार्ग सुचारु रूप से तय हो जाता है जिन्हें नहीं प्राप्त होते उन्हें भटकना ही पड़ता है । इसका

उदाहरण यह प्रत्यक्ष संसार है जिसमें इस बात का अनुभव किया जा सकता है। इसी बात को लक्ष्य करके मन्त्रोपदेश किया गया है। अग्नि को मार्ग दर्शक बतलाया गया है। पूर्व के कई मन्त्रों के व्याख्यान में अग्नि शब्द का अर्थ बता दिया गया है। सामान्यतः इसका अर्थ प्रकाश प्रदान करना है। यह अर्थ सद्गुरू परमात्मा और देश या राष्ट्र को चलाने वाले नेता के अर्थ में सङ्गत होता है। मन्त्र में 'नय' इस क्रिया पद से इन अर्थों का ग्रहण करना संगत प्रतीत होता है। अज्ञान रूपी अंधेरे में भटकता हुआ मनुष्य जब सौभाग्य से गुरू को प्राप्त करता है तब परम ज्योति रूप परम तत्त्व को साक्षात् प्राप्त करता है जिससे भ्रान्ति का निराकरण होकर आनन्दित होता है। प्राणिमात्र के हृदय में विराजमान परमात्मा भी मार्ग बताने वाला है जब कभी कोई दुर्विचार मनुष्य के हृदय में आता है तब मना करने की सूचना वह देता है। यदि अच्छा विचार होता है तब उसे करने की अनुमति देता है। इस प्रक्रिया को समझने वाला ही वास्तविक अधिकारी है।

'कौन्शेन्स इज दि इनर वॉइस ऑफ गॉड" आन्तरिक आवाज ईश्वर की वाणी है इसलिये सर्व प्रथम मार्ग दर्शक परमात्मा ही है। उससे प्रार्थना की गई है वह सभी कृत्यों को जानने वाला है क्योंकि प्रेरणा रूप में शुभ एवं अशुभ दोनों को बताता है इसलिये हे भगवन् सुन्दर मार्ग से ले चलिये। आप हमारे सभी कर्मों को जानने वाले विद्वान हैं। अज्ञान के वशीभूत प्राणी सद्असद् का विवेक जब नहीं करता है तब उसके इस प्रकार के विपरीताचरण से पाप की उत्पत्ति होती

है। उसका कर्त्ता मनुष्य ही होने से उसका फलभागी भी वही होता है। वह प्रतिकूल वेदनीय होने से दुःख नाम से कहा जाता है। इसीलिये मन्त्र में कुटिल पाप से छुटकारा पाने की भी प्रार्थना की गई है। अग्नि का प्रकाश करना तथा कूड़ा करकट को भस्म करके नष्ट करना मुख्य कार्य है। इसी प्रकार देश या राष्ट्र की जनता को यथार्थ मार्ग दिखाना एवं राष्ट्र विरोधियों को ध्वंस करना राष्ट्रनेता का मुख्य कार्य है। इन लक्षणों वाला ही विद्वान देश की सभी परिस्थितियों का ज्ञाता होता है। जनता उसी को बार-बार नमस्कार करती है। जब कभी उदाहरण की आवश्यकता होती है तब तब उसी का स्मरण करती रहती है। 'भूयिष्ठां नमउक्तिम्' का अधिकारी वही होता है और वही प्रजा की कठिनाइयों को दूर करने में समर्थ होता है। उपासकों ने इस मन्त्र का अर्थ देवयान मार्ग की प्राप्ति में लगाया है। अग्नि देवता ही ब्रह्मलोक की प्राप्ति साधक को कराता है।

—:०:—

[९०]

सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धवः।
अनुक्षरन्ति काकुदं सूर्यं सुषिरामिव॥

(ऋ ८–६९–१२)

शब्दार्थ—हे वरुण तुम श्रेष्ठ देव हो तुम्हारी सात सिन्धुओं की धारायें तालु छिद्र से प्रवाहित होने वाली छिद्र धाराओं की तरह प्रवाहित होती हैं।

व्याख्या

वरुण इन्द्र एवं विष्णु इन तीनों देवताओं का स्वरूप एवं कार्य परस्पर बहुत ही मिलता जुलता है। इन्द्र का सखा विष्णु को बताया गया है विष्णु का एक नाम उपेन्द्र भी कोशों में मिलता है। वारुण मण्डल में भी विष्णु का ध्यान योगियों ने माना है जिसे स्वाधिकष्ठान के नाम से कहा गया है इसलिए विष्णु का सम्बन्ध इन्द्र एवं वरुण से होने से दोनों में विष्णु देवता का अन्तर्भाव है। इन्द्र एवं वरुण देवों को राजा शब्द से कई मन्त्रों में बताया है। इस विषय में एक बार विवाद उठा कि इन्द्र देवता राजा हैं या वरुण। कुछ लोग वरुण के मानने वाले हुए और कुछ इन्द्र के पक्षपाती बने। विवाद को मिटाने के लिये पूर्व दिशा का राज्य इन्द्र को एवं पश्चिम दिशा के राजा वरुण नियुक्त हुए। इस प्रकार विवाद समाप्त किया गया। पंजाब प्रदेश की पश्चिम हद पर बहने वाले सिन्धु नद को पूर्व एवं पश्चिम भाग की सीमा नियत की गई। सिन्धु नद के पश्चिम भाग में सप्तनद प्रदेश माना गया है। भूमध्य सागर तक यह सीमा पहुँचती है। यह वरुण का प्रदेश है। मन्त्र में वरुण को सुदेव पद से कहा गया है। उन सप्त नदियों के वैदिक नाम इस प्रकार हैं ऋग्वेद की एक ऋचा में उनके नाम इस प्रकार बताये गये हैं। (१) तृष्टामा, (२) सुसर्तु, (३) रसा, (४) श्वेती, (५) कुभा, (६) गोमती, (७) क्रमु ऐतरेयलोचन नामक ग्रन्थ में पं० सत्यव्रत समाश्रमी ने इन नदियों के आजकल के नाम

इस प्रकार दिये हैं। तृष्टामा और सुसर्तु ये सुवास्तु के नामान्तर हैं जिन्हें आजकल स्वाद कहते हैं रसा का नाम काबुल, श्वेती का नाम अर्जुनी (डेरा इस्माइ खां के पास बहने वाली) कुभा काबुल क्रमु कुर, गोमती गोमलति (ऐ० पृ० २८) इत्यादि नाम दिये गये हैं। इन्हें पश्चिम प्रदेश का सप्त सिन्धु कहते हैं। यह प्रदेश भी आर्यावर्त का ही भाग था। सिन्धु के पूर्व का देश भी सप्त सिन्धु के नाम से कहा जाता है जो गङ्गा, यमुना, सरस्वती, सतलज, व्यास, रावी, झेलम के नाम से प्रसिद्ध हैं। कुछ विदेशी विचारकों ने पश्चिम के सप्त सिन्धु को ही आर्यों का मूल स्थान माना है वहीं से भारत में उनका प्रवेश हुआ है ऐसा कहते हैं परन्तु यह बात अप्रमाणिक सिद्ध हो चुकी है। आर्यों का मूल स्थान यही भारत है। उनका बाहर से आना किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं है। 'एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः। स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥' इस मनुस्मृति के प्रमाण से विदेशियों का आर्यों का बाहर से आना कहना सर्वथा अयुक्त है। इस देश के उत्पन्न ब्राह्मणों से सारे संसार के लोगों ने सर्वप्रथम अपनी-अपनी सभ्यता को सीखा। इसलिए सर्व प्राथम्य भारत को ही है। श्लोक में अग्रजन्मा शब्द का प्रयोग आर्यों का बाहर से आने वाले मत को भ्रान्त बताता है क्योंकि कहीं बाहर से आने वाले के लिये अग्रजन्मा शब्द का प्रयोग अयुक्त है। अनार्यों को यहाँ के आदि वासियों की उपाधि देना सर्वथा अनुपयुक्त है। आर्य बाहर से नहीं आए हैं। इसी प्रकार लोकमान्य बालगङ्गाधर तिलक का

उत्तरीय ध्रुव एवं श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती का तिब्बत (त्रिविष्टप) से आर्यों का आना कहना भी सर्वथा निराधार ही है। सप्त छिद्र दो-आँख, दो-कान, दो-नाक और मुख इनसे ज्ञान की धारायें जैसे बहती रहती हैं इसी प्रकार वरुण देव के द्वारा सप्त सिन्धु प्रवाहित होते रहते हैं। व्याकरण महा भाष्यकार श्रीमहर्षि पतञ्जलि ने शब्द ब्रह्म को वरुण पद से ग्रहण करके प्रथमा द्वितीया आदि सात विभक्तियों को सप्त सिन्धुपद से ग्रहण किया है। मन्त्र का माहात्म्य ही ऐसा हैं कि अनेक अर्थों की सूचना उनसे प्राप्त होती है।

—:०:—

(९१)

यशो मा द्यावा पृथिवी यशो मेन्द्र बृहस्पती।
यशो भगस्य विन्दतु यशो मा प्रतिमुच्यताम्॥
यशस्व्याः स्या संसदोऽहं प्रवदिता स्याम्।

(साम० ६-३-१०)

शब्दार्थः—द्यौ लोक और पृथिवी लोक का यश हमें प्राप्त हो, इन्द्र बृहस्पति का प्राप्त हो, सूर्य का यश मुझे प्राप्त हो। यश पदार्थ कभी हमें न छोड़े (यशस्वी हमारी सभा को यश त्याग न करे और उसके हम वक्ता बनें।

व्याख्या

यश या कीर्ति संसार की मीठी वस्तुओं में सबसे श्रेष्ठ है। हर एक प्राणी इसे चाहता है। इसके लिये बड़े से बड़ा

त्याग मनुष्य कर देता है। मैं किसी प्रकार यशस्वी होऊं यह अभिलाषा प्रत्येक प्राणी के अन्दर सदैव जाग्रत रहती है तथापि इस विषय में मनुष्य भूल जाता है। झूठी प्रशंसा या खुशामद द्वारा भी कभी कभी अपने यश का विस्तार करने लगता है। जिससे अन्त में उसका परिणाम यश प्राप्ति के विपरीत होता है। मनु, हरिश्चन्द्र, रामचन्द्र आदि महापुरुषों के गुणों से जो उन्हें यश प्राप्त हुआ है वह अमर कीर्ति सदैव संसार में जीती रहेगी। और उसका लाभ प्रत्येक अधिकारी जन उठाते रहेंगे। परोपकार, त्याग, सत्यभाषण, देशभक्ति, विद्या के द्वारा जो यश मनुष्य को प्राप्त होता है, वही यथार्थ है। इसी में स्थायित्व रहता है। इसी तत्व का उपदेश मन्त्र में दिया गया है।

द्यौ लोक वह स्थान है जहां पर सूर्य उदय होता है उसके नीचे अन्तरिक्ष एवं उसके नीचे यह पृथिवी है। इसे ही 'भूर्भुवः स्वः' इन तीन महा व्याध्तियों के द्वारा कहा जाता है। इन तीनों लोकों में सारा विश्व समाया हुआ है। पौराणिक मत से ऐसे ही और भी लोकान्तर हैं तथापि उनका इन तीनों में ही अन्तर्भाव कर सकते हैं। इनका यश प्रकट है—सूर्य सभी जगत को प्रकाश देकर अनेक रोग व्याधि के निवारण में समर्थ होकर अपने द्यु लोक को यशस्वी बना रहा है। द्यू और पृथिवी के बीच में रहा हुआ अन्तरिक्ष भी प्रकाश देकर यश का विस्तार कर रहा है। पृथिवी माता के उपकारों को इयत्ता नहीं कही जा सकती—"जननी जन्म भूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी" स्वर्ग से भी अधिक जननी और

जन्म भूमि का महत्व है। इन दोनों तत्वों का जो संसार में यश फैल रहा है उनके इन गुणों के कारण ही है वही गुण यशोवर्धक हमें हों यह महती भावना मन्त्र के इस अंश से कही गई है। इन्द्र और वृहस्पति का यश भी हमें प्राप्त हो। इन्द्र देवताओं का राजा परमैश्वर्यवान देवता है। सृष्टि का संचालन उसी से हो रहा है जल वर्षा का कार्य इसके द्वारा मुख्यतः होता है ऐसे ही वरुण भी हैं उन्हें भी राजा की पदवी दी गई है। दोनों में वैमनस्य न हो इसलिये दोनों का विभाग कर दिया गया है। पूर्व दिशा इन्द्र की और पश्चिम दिशा वरुण को दी गई है (इसलिये पूर्व दिशा को ऐन्द्री एवं पश्चिम को वारुणी कहते हैं। वृहस्पति देवगुरु का नाम है जिसकी वाणी में महत्ता होती है उसे ही वृहस्पति कहते हैं। बड़े-बड़े व्याख्याताओं को जो कीर्ति तथा यश मिलता है वह हमें मिले। वक्तृत्व हमारा लोक में बढ़े यह यश कामना का विषय है। ऐश्वर्य प्राप्ति पर जो यश मनुष्य को मिलता है तथा वाग्मीपन का यश प्राप्त होने पर जो कीर्ति मिलती है वह यश हमें प्राप्त हो यह मन्त्रार्थ का अभिप्राय है। सूर्य का यश प्रसिद्ध ही है प्रत्येक प्राणी का कार्य सूर्य से ही चल रहा है बिना रोक टोक के वह प्रकाश और गर्मी देकर जगत का कल्याण कर रहा है इससे सारा जगत् उसके यशोगान में तत्पर है। बिना किसी अपेक्षा से जो लोक के हित में प्रवृत्त है ऐसा ही हम भी कार्य करें तथा उस यश के भागी हों और यश पदार्थ हमें कभी न छोड़े। मनु[illegible] के सत्कर्म से बहुत सी उत्तम वस्तुयें उसको मिल जाती हैं तथापि उनका दुरुपयोग

होने से चली जाती है जिससे अपकीर्ति होती है इसलिये यश के नाशक हमारे कृत्य न हों जिससे यश से वञ्चित हम न हों देश जाति के धर्म के सामुदायिक उन्नति के लिये सभा या संसद का होना बहुत ही आवश्यक है। बड़े बड़े कार्य संगठन से पूर्ण होते हैं। प्रजा के हितों की रक्षा तथा राष्ट्र विरोधी तत्वों से प्रजा को बचाते रहना संसद का मुख्य कार्य है। इन्हीं बातों से संसद यशस्वी हो सकती है अन्यथा उसका यश दुर्लभ है। जब स्वार्थी, अज्ञानी, देश द्रोही, लोभी, धर्माचरण रहित लोग सभा में घुस पड़ते हैं तब सभा का यश नष्ट हो जाता है। संसद में ऐसी भावना न हो जिससे सभी का स्तर हीनता को प्राप्त हो ऐसी उत्तम सत्यनिष्ठा वाली संसद का मैं प्रवक्ता बनूं। ऐसी हमारी कामना हो अर्थात् सत्य निष्ठा वाला सदाचार सम्पन्न हमारा व्यवहार हो जिससे मैं संसद का वक्ता बन सकूं। केवल मौखिक भाषण से वक्ता यशस्वी नहीं हो सकता। इसलिये इन बातों को यशस्वी को ध्यान में रखना चाहिये।

[९२]

वृहस्पतिः प्रथमं जायमानो महो ज्योतिषः परमे व्योमन्।
सप्तास्यस्तु विजातो रवेण विसप्तरश्मि रधमत्त तमांसि॥

(ऋ ४-५०-४)

शब्दार्थ—परम व्योम में सर्व प्रथम प्रकट होने वाले परावाणी के स्वामी वृहस्पति ने ज्योति का प्रकाश किया। शब्द रूपी अपने उपदेश से सप्त मुख वाला, सात

छन्दों में विभक्त, सात रश्मि वाले सूर्य की तरह समस्त अन्धकार का विनाश करने वाला हुआ।

व्याख्या

ॐकार के बिन्दु स्वरूप में रहने वाला प्रकाश रूप परब्रह्म को ही शिव शक्ति के नाम से ज्ञानी लोग कहते हैं। वही अपनी इच्छा शक्ति से जगद् रूप धारण करने की भावना से प्रकट होता है। सर्व प्रथम क्रियाशक्ति से नाद रूप अव्यक्त ध्वनि प्रकट होती है उस नाम तत्त्व में ज्ञानशक्ति का योग होने पर नाद की वर्ण रूप से अभिव्यक्ति होती है। उस वाणी का नाम बृहती है जहां यह प्रकट होती है उसे परम व्योम कहते हैं। इस वाणी का स्वामी बृहस्पति या ईश्वर तत्त्व अन्तर्यामी है। जो सारे विश्व का सञ्चालक है एवं सबका गुरु है। जगत् के भावि सर्व विषयों को प्रकाशित करने वाला वैदिक भाषा या विज्ञान इसी तत्त्व से प्रकट हुआ है। जगदीश्वर की यह विचित्र महिमा है कि वर्णमाला के ६३ या ६४ वर्णों से ही वैदिक भाषा का सारा रूप बनाया गया है इसी भाषा का प्रथम ज्ञान महर्षियों ने प्राप्त किया। यह वाणी सदैव अपने स्वरूप से रहती है 'वाचा विरुपनित्यया अतएव च नित्यत्वम्' श्रुति एवं श्री व्यास सूत्र से मानी गई है केवल ईश्वर द्वारा इसका आविर्भाव तिरोभाव होता रहता है 'शास्त्र योनित्वात्' इस सूत्र में व्यास जी ने वेद की उत्पत्ति इसी प्रकार मानी है। युगान्त में अन्तर्हित वेद को तपश्चर्या से महर्षिगण पुनः प्राप्त करते हैं—

"युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः । लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाता स्वयंभुवा ॥" आचार्य जैमिनि, श्री शबर स्वामी आदि मीमांसकाचार्य, मन्त्र क्रम से वर्ण न्यास रूप आनुपूर्वी को भी नित्य मानते हैं ।

तथापि कई आचार्य मन्त्र क्रम को नित्य नहीं मानते 'तेन प्रोक्तम्' सूत्र के भाष्य में महर्षि पतञ्जलि ने क्रम को अनित्य बताया है ऐसा ही अन्य कई आचार्यों का मत है । वैदिक भाषा में संसार के सभी विषयों का सूक्ष्मता से प्रतिपादन किया गया है मन्त्रों के अभिप्राय को व्यक्त करने वाले ब्राह्मण ग्रन्थों का निर्माण पीछे से हुआ, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषदों में 'तदुक्तं ऋषिणा' इत्यादि वाक्यों से मन्त्र की प्रधानता बताई है यह सब वैदिक साहित्य ही है । और वृहस्पति की कृपा से अज्ञानान्धकार को दूर करने वाला है । मन्त्र ब्राह्मण तो उसके भेद हैं । शिक्षा, कल्प, निरुक्त, व्याकरण छन्द और ज्योतिष, ये वेद के षड् अङ्ग और ऋक, यजुः साम, अथर्व ये चारों वेद संज्ञा से कहे जाते हैं । ऐतरेय, शतपथ, तैत्तरीय, गोपथ ताण्ड्य, आदि ब्राह्मण कहे जाते है । इसे निगम पद से कहा गया है । इस शास्त्र के अतिरिक्त नाद, विन्दु कला में अभिव्यक्त श्री वृहस्पति गुरु तत्त्व द्वारा आगम तत्त्व का निरूपण किया गया है जो योग शक्ति द्वारा अज्ञानान्धकार का विनाशक है यह वेद से पूर्व है क्योंकि इस साधन के पश्चात् ही वेदार्थ का अवगम होता है । वैदिक छन्द सात भेदों में कहे गये हैं गायत्री उष्णिक, अनुष्टुप वृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप्, जगती आदि सारे

अर्थ इन छन्द संकेतों में बता दिये गये हैं। इसीलिये मन्त्र में इसे सप्त मुख बताया गया है। आगम एवं निगम इन दोनों प्रकारों के छन्द समुदाय से ही अज्ञानान्धकार की निवृत्ति होती है।

शब्द तत्त्व के विषय में एक श्लोक भी प्रसिद्ध है—"इदमन्धंतमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्। यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरा संसारं न दीप्यते ॥"

अर्थात् यदि शब्द रूप ज्योति नहीं होती तो यह सारा संसार अंधेरे में ही रहता।

(९३)

वृहस्पते या परमा परावदत
आत ऋतस्पृशो निषेदुः।
तुभ्यं खाता अवता अद्रि दुग्धा
मधश्चोतन्ति अभितो विरप्शम् ॥

(ऋ० ४-५०-३)

शब्दार्थः—हे वृहस्पति रूप परमेश्वर! सबसे श्रेष्ठ ज्ञान की रक्षा करने वाली आपकी वेद वाणी है, और उसका साक्षात् करने वाले ज्ञानी महर्षिगण आपके चारों ओर बैठे हैं। वे जल से पूर्ण कूप की तरह तथा पर्वतों से मधुर झरते हुये निर्झर जल की तरह, जो धर्म मेघ समाधि द्वारा रस स्वरूप आत्म-देव से निकलते हुये ब्रह्मानन्द रस की वर्षा करते हैं।

व्याख्या

पहले मन्त्र में जिस देवगुरु तत्व का परिचय दिया गया है। उसी तत्व की आन्तरिक अवस्था का वर्णन इस मन्त्र में किया गया है। वेदवाणी के वही रक्षक हैं। अध्यात्म प्रेमी ऋषिगण उनसे आदेश प्राप्ति के लिये चारों तरफ से घेरे रहते हैं। उसकी कृपा का कण सारे जगत का कल्याण करने में समर्थ है। इसी तत्व को अध्यात्म मार्ग में दक्षिणा मूर्ति के नाम से कहा गया है। गुरु रूप से इसकी स्तुति की गई है। श्री शंकराचार्य कृत दक्षिणा मूर्ति स्तोत्र में विषय स्पष्ट रूप से बताया गया है। उसके श्लोक बहुत ही मार्मिक एवं साधना की दृष्टि से बहुत ही उच्चावस्था को बताने वाले हैं।

"वट विटपि समीपे भूमि भागे निषण्णं सकल मुनि जनानां ज्ञानदातार मारात् त्रिभुवन गुरुमीशं दक्षिणामूर्तिदेवं जननमरण दुःखच्छेद दक्षं नमामि।" अर्थात् वट के वृक्ष के नीचे बैठे हुये जो सभी मन्त्रवेत्ता मुनियों के भी ज्ञानदाता (गुरु) हैं तथा जो त्रिभुवन के गुरु हैं एवं सर्व सामर्थ्यवान हैं, जन्म मरण के दुःख नष्ट करने में जो दक्ष हैं। ऐसे दक्षिणा-मूर्ति देव को मैं नमस्कार करता हूँ।"

अविद्या के प्रभाव से सांसारिक जीव दुःखी हो रहे हैं। उन्हें श्री गुरु की करुणा जब प्राप्त होती है, तब दुःखों से छुटकारा होता है। परम कारुणिक वृहस्पति रूप दक्षिणामूर्ति गुरु अपनी अहेतु की कृपा से धर्म मेघ नामक समाधि से आनन्द रूप ब्रह्मानन्द की वर्षा करते हैं। इस अन्तिम समाधि

अवस्था का वर्णन श्री शंकर स्वामी ने किया है। यह एक विचित्र बात वट वृक्ष के नीचे बैठे हुये गुरु शिष्यों में देखी जा रही है। गुरुजी का मौन व्याख्यान हो रहा है, और शिष्यों को अब कुछ पूँछना नहीं है। सभी सन्देह उनके दूर हो गये हैं। इसे ही आध्यात्मिक अन्तिम अवस्था बताई गई है। भगवान् के चारों तरफ शिष्यों की स्थिति है। इसे मन्त्र में बताया गया हैं जिसे महर्षिगण उस परमात्मा के चारों ओर बैठे हुये हैं, ऐसा कहा गया है। 'केन' उपनिषद में यक्ष और उमा के दृष्टान्त से इसी तत्व की व्याख्या की गई है। एक पुरानी आख्यायिका 'वाष्कलि' और 'वाध्व' ऋषि की इस विषय में कही जाती है। एक समय 'वाध्व' ऋषि 'वाष्कलि' ऋषि के पास ब्रह्म ज्ञान के लिये, और उनसे कई बार प्रश्न किये, कि हे भगवन् ! आप हमें ब्रह्म का उपदेश करिये परन्तु ऋषि कुछ भी नहीं कहे तब वहां से 'वाध्व' वापस होने लगे और कुछ दूर चले जाने पर 'वाष्कलि' ने उन्हें पुकार कर कहा कि हे वाध्व ! तुम वापस क्यों चले जा रहे हो ? वाध्व ने कहा कि हे भगवन् ! मैं जिस अभिलाषा से आपके पास आया था, उस विषय पर आपसे पूँछने पर भी आपने कुछ भी नहीं कहा, इसलिये मैं लौटा जा रहा हूँ। ऋषि ने उत्तर दिया कि तुम्हारे प्रश्न का उत्तर तो मैंने दे दिया है उसे तुमने समझा नहीं। वास्तव में ब्रह्म तत्व का निरूपण मन वाणी से नहीं हो सकता। उसके विषय में कुछ कहना व्यर्थ ही है, क्योंकि वाणी का विषय अनात्म पदार्थ ही होते हैं। इसलिये इसका मौन ही व्याख्यान है। इस तत्व को समझकर

ऋषि का समाधान हो गया। उक्त मन्त्रार्थ इसी अर्थ का बोधक है।

[९४]

आदेवानामपि पन्थामगन्म,
यच्छक्नवाम तदनु प्रवोढुम्।
अग्निर्विद्वान्त्स यजात् सइद्धोता,
सोऽध्वरान्त्स ऋतून् कल्पयाति ॥
(ऋ० १०-२-३)

शब्दार्थ—हम सब देव विद्वानों के मार्ग के अनुयायी हों; तथा उसके अनुसरण से जो अनुभव हों, उसके अनुसार हम चलें। अग्नि स्वरूप प्रकाश करने वाला परमात्मा ही है, वह सबको देने वाला है। समस्त यज्ञ और ऋतुओं को उसने ही बनाया है विद्वान उसी के अनुयायी होते हैं इसलिए सर्व सामान्य जनों को विद्वानों का अनुसरण करना चाहिए।

व्याख्या

हम सब देवता और विद्वानों के मार्ग का अनुसरण करें। इसका अभिप्राय यही है कि इनका अनुसरण करने से मनुष्य कल्याण का अधिकारी होता है। गीता में कहा गया है कि यज्ञानुष्ठान से देवता प्रसन्न होकर मनुष्य का कल्याण करते हैं। इसी प्रकार विद्वान भी होते हैं। विद्वान के संग से दुर्गुणों की निवृत्ति होती है सद्गुण एवं सत् शिक्षा मिलती है जिसका अनुसरण करने से अभ्युदय की प्राप्ति होती है।

मनुष्य को वेद यह शिक्षा इसीलिये देता है। कुसङ्ग और दुष्ट पुरुषों के साथ से अधःपतन होता है। विद्वान की सङ्गति से अधःपतन का मार्ग छूट जाता है। वाल्मीकि, धर्मव्याध आदि दुष्ट-जन सज्जनों की सङ्गति से महत्व को प्राप्त किये थे। पुराण ग्रन्थों में सैकड़ों इस प्रकार के उदाहरण मिलते हैं। इन उदाहरणों द्वारा पुराण साहित्य इसी तत्त्व की व्याख्या करते हैं। जगत रचना करके परमात्मा ने सभी जगत की चीजें मनुष्य को दे दी हैं इसलिए वही एक दाता पद से कहने के योग्य है। मनुष्यों को भी दाता होना चाहिये क्योंकि आसक्ति रागद्वेष पूर्वक व्यवहार अज्ञान का ही रूप है इसलिये ईश्वर समर्पण बुद्धि से जगद् व्यवहार करने की आज्ञा वेद ने दी है। सभी जीवों को यथार्थ उपदेश विद्वान करते रहते हैं इसलिए ईश्वर की तरह वे भी पूजनीय हैं और उनका अनुसरण भी करना चाहिये जो विद्या प्राप्त कर भी ऐसा नहीं करते वे अवश्य ही त्याग करने के योग्य हैं। परलोक तथा इस लोक के सुखों को प्राप्त करने के लिए अग्निरूप से उसने यज्ञ करने का आदेश दिया है वही यजमान रूप से 'होता' का निर्देश किया है। उसी ने 'अध्वर' अर्थात् सर्वोपकारी हिंसा रहित यज्ञों के करने का उपदेश दिया है। वैदिक हिंसापरक यज्ञ यद्यपि लोक रक्षा के ही लिए बताये गये हैं यद्यपि अहिंसक यज्ञ उत्तम फल देने वाले हैं। इसलिये कर्तव्य रूप से उनका ही विधान है। हिंसापूर्वक यज्ञ करने पर प्रायश्चित का विधान होने से उत्तम नहीं कहे जा सकते। इसलिये मन्त्र में 'अध्वरान्' ऐसा कहा गया है। ब्रह्मचारी के लिए वेद का

स्वाध्याय मन्त्र जप का विधान किया गया है। गृहस्थ के लिये पंच महायज्ञ का विधान है। वानप्रस्थी एवं सन्यासी के लिये मन वाणी एवं शरीर से अहिंसक होकर ब्रह्म प्राप्ति के लिये योगाभ्यास उपासना का विधान किया है। ये सब अहिंसक यज्ञ अध्वर पद से गृहीत होते हैं इनका फल ब्रह्म प्राप्ति है। समय की अनुकूलता ही कार्य सिद्धि का हेतु है। यदि अनुकूल समय न हो तो कार्य सिद्धि न होकर विपरीत फल का देने वाला हो जाता है। इसलिए ऋतु शब्द का निर्देश मन्त्र में किया गया है। वैदिक यागों में ऋतुयाग भी प्रधान रूप में लिया गया है। ऋतु पद से यागोपयोगी सभी समय का ग्रहण करना चाहिए। इन सबका उपदेश परमात्मा ने ही किया है।

(९५)

ऋतस्य पन्था मनुपश्य साध्वाङ्गि रसः सुकृतो येनयन्ति।
तेभिर्याहि पथिभिः स्वर्गं यत्रादित्था मधु भक्षयन्ति॥
तृतीये नाके अधि विश्रयस्व॥

(अथर्व० १८-४-३)

शब्दार्थः—हे मनुष्य! सत्य स्वरूप प्रजापति के मार्ग को जान! जिससे योगी ज्ञानी जन जाते हैं। उन मार्गों से तुम आनन्द प्रद स्वर्ग लोक को प्राप्त हो। जहाँ अखण्ड अदिति महाशक्ति के उपासक परमयोगी ब्रह्ममय अमृत का पान करते हैं। उस तीसरे लोक में जो कि सुख स्वरूप है, उसमें अपने को स्थापन

कर। मनुष्य देवता से परे पूर्ण ब्रह्म रूप तीसरा स्वर्ग–लोक माना गया है।

व्याख्या

"मारग सोइ जाकहं जोइ भावा" के अनुसार संसार का प्रत्येक प्राणी अपनी अपनी रुचि के अनुसार, अपनी बुद्धि द्वारा निर्धारित मार्ग पर चल रहा है। परन्तु वैदिक मार्ग का निर्देश जीव को सुमार्ग पर चलना है। जिस पर चलकर सुखपूर्वक अपने लक्ष्य स्थान की प्राप्ति करना है। इसे ही "ऋतस्य पन्था" के नाम से बताया गया है। और उसे ही सत्य रूप से जानने के लिये कहा गया है। संसार में आज धर्म को लक्ष्य करके अनेक मत मतान्तर बनाये गये हैं, जिनका लक्ष्य श्रेय की प्राप्ति ही है। तथापि मूल वैदिक सिद्धान्त से वे पृथक नहीं हैं। अज्ञानवश सारे जीव परस्पर झगड़ा फिसाद में लीन रहकर ऋतु या सत्य मार्ग से बहुत दूर हो गये हैं। उसी मार्ग पर चलने के लिये यह वेदोपदेश है। बुद्धि को शुद्ध करके जगद्-व्यवहार करने की योग्यता वाले महापुरुषों को योगी बताया गया है। तत्वज्ञानी पुरुषों को ज्ञानी के नाम से कहते हैं यही ईश्वरीय मार्ग के ज्ञाता हैं और यही उस मार्ग पर यथार्थ रूप में चलते हैं। सर्व सामान्य पुरुषों को उनका ही अनुकरण करना चाहिये। 'देवयान' एवं 'धूमयान' के भेद से यह मार्ग दो प्रकार का है। संसार की प्रवृत्तियों से विरक्त पुरुष देवयान मार्ग पर चलते हैं। लौकिक अर्थ प्रधान प्रवृत्ति वाले धूमयान मार्ग पर चलते हैं। इस मार्ग पर चलने वाले

अविद्या से मुक्त नहीं होते, उन्हें संसार में ही घूमना पड़ता है। "देवयान" मार्ग से चलने वाले क्रमशः अपनी बुद्धि का विकास करते हुये परम तत्व से जा मिलते हैं। ये दोनों मार्ग सनातन काल से ही चले आ रहे हैं, तथापि देवयान मार्ग ही 'ऋतस्य पन्था' है, क्योंकि फिर इनमें दुःख में नहीं आना होता है। अखण्डित अदिति पराशक्ति की उपासना से ही यह पद प्राप्त है, जिसका खण्डन नहीं हो सकता, उसे ही 'अदिति' कहते हैं। ऐसा केवल शक्ति तत्व ही है। उपासक देवयान द्वारा मनुष्य, देवता इन दोनों से परे आनन्द रूप स्वर्ग तत्व को प्राप्त करता है। उसी में अपने को स्थापन करने को कहा गया है। जगत का हर एक प्राणी आनन्द की खोज कर रहा हैं परन्तु सांसारिक सुखों से तृप्ति न होकर तृष्णा ही की वृद्धि हो रही है। प्रकृति के राजस तामस भावों की अधिकता होने से आनन्द का असली स्वरूप ढक गया है। सत्व गुण से प्रकट होने वाला यथार्थ ज्ञान एवं आनन्द छिप गया है। मनुष्य अज्ञानवश विषयों में प्रतीत इस क्षुद्र आनन्द की ही सब कुछ मान बैठा है जो कि वास्तविक नहीं है। मन्त्र में मनुष्य देवता इन दोनों भावों से परे तृतीय ब्रह्म भाव को बताया है जहां पर राजस तामस भाव शान्त हो गये हैं केवल शुद्ध सात्विक भाव अपने शुद्ध स्वरूप से ज्ञान एवं आनन्द के स्वरूप को प्रकट कर रहा है। इसी को प्राप्त करना जीवन का लक्ष्य है। राजस तामस आनन्द विषयों में जो भासित हो रहा वह उसका असली रूप न होने से हेय कोटि में ही है। सच्चिदानन्द स्वरूप वाली अदिति पराशक्ति

की साधना से ही यह आनन्द मिल सकता है। यही ऋत मार्ग का लक्ष्य है।

—:०:—

[९६]

समेत विश्वा ओजसा पतिं दिवो,
य एक इदमू रतिथिर्जनानाम्।
सपूर्व्यो नूतनं माजिगीषं तं वर्तनि,
रनुवांवृतं एक इत्॥

(साम० ४-३-३)

शब्दार्थ—हे समस्त विश्व के प्रजागण, तुम सब ओज से एक साथ मिलकर रहो। मनुष्यों के लिए अतिथि के समान पूजनीय जो एक है। उस दिवपति परमात्मा को एक होकर मानो. वही सबसे पूर्व एक कारण है। विजय प्राप्त करने के लिए नवीन विजयेच्छुओं को वह अकेला ही चलाता है।

व्याख्या

मन्त्र दृष्टा ऋषि ने ओज के द्वारा विजय प्राप्त करने के लिए विजयेच्छुक प्रजा को एक सङ्गठन में रहने का उपदेश दिया है। जगत के बड़े बड़े कार्य सङ्गठन से बिना प्रयास ही सिद्ध हो जाते हैं। इस तत्त्व को अनेक मन्त्रों में बताया है जिसे पूर्व के अनेक मन्त्रों की व्याख्या में स्पष्ट रूप से बताया गया है। इस मन्त्र में ओज द्वारा सङ्गठित

होने का आदेश इसलिए दिया गया है, कि शत्रु शक्ति पर विजय ओज द्वारा ही होती है। प्रकाश, बल, दीप्ति आदि अर्थों में ओज शब्द का प्रयोग होता है। जिस बल के उपयोग से शत्रुओं का पराभव किया जाता है, उसे ही ओज कहते हैं, और ऐसे वीर पुरुषों को ओजस्वी कहा जाता है। ऐसे ओजस्वी का सहायक ईश्वर होता है—"हिम्मते मरदां मददे खुदा" इस पर्सियन कहावत में भी उक्त बात का प्रतिपादन प्रचलित है। हिम्मत करने वालों का सहायक ईश्वर होता है। जैसे अतिथि मनुष्य के लिए पूजनीय एवं प्रिय होता है। इसी प्रकार ईश्वर भी वीरों का प्रिय है। जो पद योगी महात्माओं को बड़ी कठिनाई से प्राप्त होता है उसे वीर सरलता से प्राप्त कर लेता है। "हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गम्" इस गीता वचन में यह बात कही गई है। युद्ध क्षेत्र वीरों के लिये खुला स्वर्गद्वार है यह भी कहा गया है। परमात्मा इस संसार के प्रथम होने से उसे मन्त्र में पूर्व्य पद से कहा गया है। जैसे भावि ओजस्वी वीर परमात्मा की सहायता से अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त करते हैं तथा आगे भी करेंगे इसी प्रकार पूर्व में भी वीरगण विजय करते थे यह प्रथा वीरों में बराबर चली आ रही है। राणा प्रताप गुरु गोविन्द-सिंह आदि इस रीति का पालन बराबर करते थे। राजस स्वभाव के मनुष्य काम, क्रोध, लोभ के वशीभूत होकर युद्ध के द्वारा हत्याकाण्ड को संसार में उपस्थित करते रहते हैं जिससे विश्व शान्ति सदैव खतरे में रही है उसी को दूर करने के लिए समस्त प्रजा को उपदेश दिया गया है कि ओज

पूर्वक सङ्गठन से ही अशान्ति को हटाया जा सकता है। यही एक प्रशस्त उपाय है। बहुत से प्रचारकों ने केवल मौखिक साधनों से इसे दूर करने का प्रयत्न किया है परन्तु यह प्रयत्न सर्वदा असफल ही रहा है। यह वैदिक ओज का सिद्धान्त ही यथार्थ है। जो कर्मठ वीर हैं उनके सम्मुख यह प्रश्न बराबर आता रहा है आगे भी आवेगा। इसलिए इसे स्मरण रखना चाहिए 'नूतनमा जिगीषम्' पद से इसे ही बताया गया है। यह मन्त्र कुछ पाठ भेद से अथर्ववेद में (७-२१-१) आया है जिसका विचार प्रथम भाग में किया जा चुका है।

—:०:—

(९७)

यस्यक्रूरमभजंत दुष्कृतो ऽस्वप्नेन
सुकृतः पुण्यमायुः।
स्वर्मदसि परमेण वन्धुना
तप्यमानस्य मनसोऽधिजज्ञिषे ॥

(अथर्व १९-५६-५)

शब्दार्थः—क्रूरकर्मकारी अपने किये हुये दुष्ट कर्मों का फल भोगते हैं। सुकृती पुण्यात्मा अस्वप्न होकर सदैव जाग्रत रहते हुये पुण्य को प्राप्त करते हैं। हे स्वप्न तुम तपस्वियों के मनों पर भी आधिपत्य कर लेते हो। तुम अपने प्रभाव से उच्चकोटि के बन्धनकारी स्वरूप से समस्त ज्ञान तथा सुख को भी छिपा लेते हो।

व्याख्या

ईश्वर की इच्छा से क्रियाशक्ति परिणत होकर माया या प्रकृति के परिणाम द्वारा जगत व्यवहार का संचालन कर रही है। यह कार्य प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रहा है इसलिये यह पूंछना कि यह क्यों हो रहा है यह प्रश्न सङ्गत नहीं हो सकता क्योंकि जहाँ जो क्रिया हो रही है उसका जो उपयोग है वही उसका प्रयोजन है। अविवेक से दुरुपयोग जो हो रहा है वह मनुष्य बुद्धि की कमी के कारण से है स्वाभाविक नहीं। मनुष्य इस कर्मक्षेत्र में अपनी बुद्धि द्वारा अनादि काल से चेष्टा कर रहा है एवं द्वेष इसकी चेष्टा के मूल हैं इनसे शुभाशुभ फल देने वाले कर्म बन रहे हैं जिन्हें यह भोग रहा है इसी तत्व का उपदेश मन्त्र में बताया गया है। 'अस्वप्न' पद मन्त्र में आया है जिसका अर्थ जाग्रत रहना है। यह जागना अर्थ सामान्य रूप से इस दिखने वाले व्यवहार में किया जाता है तथापि इतना ही अर्थ इस जागने का नहीं है। वास्तव में अविद्या में सोये हुये जो जीव हैं वे जब विद्या द्वारा स्वरूप को पहचान लेते हैं तभी वे अस्वप्न अवस्था को प्राप्त करते हैं और तभी वे सुकृत पुण्य के करने वाले बनते हैं। उसी अवस्था में जितनी अच्छाइयाँ हैं उन्हें प्राप्त होती हैं। इन्द्रिय विषय के संयोग से जो सूक्ष्म अनुभव मनुष्य को होता है और उसका मन पर जो प्रभाव निद्रावस्था में पड़ता है उसके प्रभाव से अनेक प्रभाव के दृश्य निद्रावस्था में मनुष्य देखता है उसे भी स्वप्न कहते हैं जिसका विचार प्रथम भाग में स्वप्न

विचार नाम से किया गया है। यह दृश्यमान जगत भी स्वप्न के ही सदृश है इसे ज्ञानियों ने बताया है। आत्मा का मन के साथ अभ्यास होने से नाना प्रकार से इसकी प्रतीति हो रही है जो कि वास्तव में असत है। स्वप्न के बताने वाले इस सूक्त में यह मन्त्र आया है इसलिये मन्त्र के उत्तरार्ध में उसे सम्बोधन करके कहा गया है। बड़े-बड़े तपस्वी अहर्निश अपनी तपस्या में लगे रहते हैं तथापि अज्ञान का प्रभाव उनके मनों पर भी होता है इसी के प्रभाव से विश्वामित्र, नारदादि मुनि अपने लक्ष्य को भूल गये थे। इसी प्रकार के अन्य और अनेक वृतान्त इतिहास पुराणों में बताये गये हैं वस्तु के स्वरूप का परिचय यथार्थ रूप में होने से जगत्कार्य यथार्थ रूप में होता है।

अविद्या के प्रभाव से जिसे मन्त्र में स्वप्न पद से कहा गया है अनेक प्रकार के बन्धनकारी दुःख पैदा होते हैं जिसे यह जीव सुलझाने में सर्वथा असमर्थ हो जाता है उसे अस्वप्न अवस्था की प्राप्ति करके सुखी होने का रहस्य बताया गया है।

—:०:—

[९८]

ॐ दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत्सत्यानृते प्रजापतिः,
अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धा ᳪ सत्ये प्रजापतिः,
ऋतेन सत्यमिद्रिय विपान शुक्रमन्धसः,
इन्द्रस्येन्द्रियमिदम्पयोऽमृतम्मधु ॥
(शु० य० १९।७७)

शब्दार्थ—प्रजापति परमेश्वर ने मनुष्य को व्यवहार की सुगमता के लिए सत्य और झूठ का विभाग किया; और झूठ में अश्रद्धा करना एवं सत्य में श्रद्धा करने का निर्देश किया। शास्त्र व्यवहार सम्मत सत्य के आचरण से आत्मा की इन्द्रियों को व्यवहार करने की शक्ति, बल, पेय, मधु (मीठा-द्रव्य) आदि जीवनोपयोगी वस्तुयें प्राप्त होती हैं।

व्याख्या

अनादि काल से सृष्टि का व्यवहार चल रहा है। इसका आरम्भ कब हुआ, इसका इतिहास मनुष्य के पास नहीं है। बहुत से लोग इसका आरम्भ बताते हैं, तथापि कार्य कारण भाव का सम्बन्ध अनादि होने से आदि की कल्पना सर्वथा अयुक्त है। जैसे इमली के बीज में वृक्ष, डाल, पत्ते आदि के सम्बन्ध की सत्ता पहले से हो है; यदि ये कार्य रूप कारणावस्था में न हों तो कभी भी कार्य रूप में नहीं हो सकते। अभाव से भाव नहीं हो सकता। इसलिए सृष्टि की पूर्वावस्था माननी पड़ती है। इसी से कार्य कारण का सम्बन्ध भी बन सकता है। यदि कारण अवस्था में कार्य न हो, तो कारण से उसका सम्बन्ध ही अप्रसिद्ध होगा एवं सुव्यवस्थित सृष्टि कार्य नहीं हो सकेगा। बिना बनाने वाले के कोई भी कार्य नहीं हो सकता। इन्हीं उक्त बातों का रहस्य मन्त्र में बताया गया है। यद्यपि बनाने वाले परम तत्त्व का नाम रूप नहीं

हो सकता, क्योंकि मन वाणी से वह रहित है। मन एवं वाणी के व्यवहार नाम रूप के ही अन्दर होते हैं तथापि वेद ने उसे ईश्वर, ब्रह्म, परमात्मा, प्रजापति आदि नामों से बताया है। प्राय: सृष्टि की प्रजा का विषय जब जब मन्त्र में आया है तब तब उसे प्रजापति सम्बोधन से कहा गया है प्रजापति ने ही यह सृष्टि बनाई है। इसमें जीवों का व्यवहार सुचारुरूप से चले यह भी उसकी कामना है। सृष्टि द्वन्द्वात्मक है—प्रकाश-अंधेरा, सुख-दु:ख, आत्मा-अनात्मा, स्त्री-पुरुष आदि भेद भी चले आ रहे हैं। ये सब कार्य ज्ञान एवं अज्ञान की भित्ति पर बने हुये हैं। ज्ञान का विषय सत्य एवं अज्ञान का विषय असत्य है। सत्य निर्भय एवं परिणाम में सुखावह है इसलिए उसमें प्रजापति ने श्रद्धा को स्थापित किया। सत्य सत्त्व की सिद्धि श्रद्धा पर आधारित है बिना श्रद्धा के सत्य अपना स्वरूप नही व्यक्त कर सकता सत्य के विपरीत असत्य में अश्रद्धा होना आवश्यक है। असत्य पदार्थों में यदि मनुष्य श्रद्धा करेगा तो पश्चात्ताप, दु:ख का होना अनिवार्य है। इसी प्रकार सत्य में अश्रद्धा होने से निश्चय ही मनुष्य का पतन होता है। प्रिय सत्य के आचरण से मनुष्यों में दैवी शक्ति प्रकट होती है जिससे जीवन के विघ्न नष्ट हो जाते हैं तथा योग क्षेम की पूर्ति बराबर होती रहती है। अविद्या की निवृत्ति इस जीवन का अन्तिम लक्ष्य है। अविद्या के प्रभाव से मृत्यु ग्रस्त यह जीवन है। सत्य के प्रभाव से मधु मीठा तत्त्व जिसे अमृत कहते हैं उसे वह प्राप्त कर लेता है—'सत्येन लभ्य एव आत्मा' जीवन के इन आवश्यक तत्वों

का उपदेश संक्षिप्त रूप में मन्त्र में बताया गया है। इसका प्रत्येक अधिकारी को मनन करना चाहिये।

—:०:—

(९९)

असति सत् प्रतिष्ठितम् सति भूतं प्रतिष्ठितम्
भूतं ह भव्ये आहितं भव्यं भूते प्रतिष्ठितम्
तदेदविष्णो बहुधा वीर्याणि।
त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः
सुधायां मा धेहि परमे व्योमन्।
(अथर्व १७-२-१९)

शब्दार्थः—असत में सत की प्रतिष्ठा है, सत में भूत की प्रतिष्ठा है। भूत वस्तु भव्य (भविष्य) में आधारित है भव्य अर्थात् भविष्य भूत में स्थित है। हे भगवन् विष्णो आपका सामर्थ्य अनेक प्रकार से फैला हुआ है। आप हम सब की रक्षा करिये अनेक रूप से पशु आदि जीवनोपयोगी वस्तुओं को प्रदान कीजिये। परम व्योम से प्रवाहित सुधा नाम वाले अमृत तत्व में मुझे रखिये।

व्याख्या

असत में सत की प्रतिष्ठा है। इस वाक्य का अर्थ देखने में विपरीत प्रतीत होता है तथापि असत पद का विचार करने से इसका अर्थ प्रकट हो जाता है। असत का अर्थ असत या

अभाव के समान रहने वाले इस दृश्यमान जगत को बताया गया है। सृष्टि के पहले सर्व प्रकार के सृष्टि व्यवहार से रहित ये सारा जगत सत स्वरूप ब्रह्म में अभाव की तरह रहता है। इसी प्रकार सत में भूत की प्रतिष्ठा बताई गई है। वर्तमान में जिन वस्तुओं का अभाव हो जाता है तथापि उनकी स्थिति सत में रहती है। भूत भविष्य में अहित है अर्थात भूत ही भविष्य में प्रकट होता है इसी प्रकार भविष्य भी भूत की प्रतिष्ठा वाला होता है। इस सारे कथन का अभिप्राय यही है कि समस्त काल से होने वाले व्यवहारों का कारण एक सत्ता पदार्थ ही है प्रत्येक वस्तु में सत्ता अनुगत है। इसी सत्ता पदार्थ का व्यवहार "है" इस क्रिया पद से किया जाता है। पुस्तक है मनुष्य है आदि व्यवहारों में सत्ता रूप को बताने वाला "है" पदार्थ मिला हुआ है यदि है पदार्थ को पुस्तक मनुष्य आदि में से पृथक कर दें तो उक्त पदार्थों का सत्ता के बिना व्यवहार भी नहीं हो सकता। इस सत से भिन्न असत में सत प्रतिष्ठित है। अर्थात् सत ही असत रूप मनुष्यादि व्यवहार का आधार है। इसी प्रकार भूत वस्तुओं का नियामक भी सत ही है बिना सत्ता के भूत का व्यवहार भी असम्भव है। भूत ही आगे चलकर भविष्य बनता है। भविष्य को देखकर भूत का अनुमान किया जाता है। किसी पुण्यात्मा को देखकर भूत में धर्मात्मा का अनुभव किया जाता है। इस प्रकार भूत भव्य में स्थित है। इन प्रकारों में सत्ता पदार्थ जगत के सभी व्यवहारों में विद्यमान है। यह सत पदार्थ ही भगवान विष्णु का स्वरूप है। उप-

निषदों में ब्रह्म को ही सत्य पदार्थ बताया गया है। वही जगत के स्थूल सूक्ष्म सभी पदार्थों का नियामक है। नित्य जीवनोपयोगी पदार्थों का वही प्रदान करने वाला है। इसलिये भी वह विष्णु नाम से कहा जाता है। सांसारिक सुख मनुष्य को तृप्त नहीं कर सकते क्योंकि परिमित होने से वे स्थायी नहीं हैं इसलिए स्थायी सुख आनन्द रूप अमृत तत्व की प्राप्ति के लिए भगवान से प्रार्थना की गई है। तथापि इस तत्व का परिचय योगीजन ही कर सकते हैं। परम व्योम सहस्रार में रहे हुए अमृत तत्व को वही प्राप्त कर सकते हैं। प्राण अपान की एकता सम्पादन करके अणु स्वरूप जीवात्मा का कुण्डली महाशक्ति के साथ मिलाते हुये परम व्योम में स्थित विष्णु तत्व के साथ जब संयोग होता है तभी वह सुधा का पान करके अमृत होता है ऐसे तो जगत के सभी खाद्य पेय पदार्थों में सुधा तत्व विद्यमान है उसी से सबका जीवन धारण हो रहा है तथापि शुद्ध स्वरूप सुधा का परम व्योम में ही है। श्री भगवान की महती कृपा से इसकी सिद्धि होती है। इसलिये सुधा तत्व की प्राप्ति की प्रार्थना की गई है।

—:o:—

[१००]

त्वज्जा तास्त्वयि चरन्ति मर्त्यास्त्वं,
विभर्षि द्विपदस्त्वं चतुष्पदः ।
तवेमे पृथिवि पंच मानवा येभ्यो,
ज्योतिरमृतं मर्त्येभ्य उद्यन्सूर्योरश्मि-
भिरातनोति ॥

(अ अथर्व १२-१-१५)

शब्दार्थ—पृथिवी माता तुम्हारे गर्भ से उत्पन्न मनुष्य तुम्हारे अन्दर चलते फिरते हैं। तुम द्विपद मनुष्य आदि एवं चतुष्पद प्राणियों को धारण करती हो। तुम ही पंच प्रकार के मनुष्यों को प्रकाश एवं अमृत प्रदान करती हो और सूर्य अपनी किरणों द्वारा विस्तृत प्रकाश करता है।

व्याख्या

प्रथ विस्तारे इस धातु से पृथिवी शब्द बना है। जो फैली हुई विस्तृत स्वरूप वाली है तथा मनुष्य पशु पक्षी आदि सभी प्राणियों को आश्रय प्रदान करने से उसे पृथिवी कहते हैं। अनेक प्रकार के भोज्य पदार्थों को उत्पन्न करके जो सबका पालन करती है इसलिए उसे माता भी कहते हैं। भगवान विष्णु की पालन करने वाली शक्ति होने से उसे पृथिवी देवी के नाम से भी कहा जाता है। अनेक प्रकार के रत्नों को अपने उदर में धारण करती है इसलिए उसे रत्नगर्भा भी

कहते हैं। वृक्ष लता गुल्म अन्नादि पदार्थ पृथिवी से उत्पन्न होते हैं इन्हीं से समस्त प्राणियों का पालन होता है इसलिए इस मातृभूमि की भक्ति करने के लिए वेद ने बार-बार सब मनुष्यों को आदेश दिया है। जो लोग अपने राष्ट्र के भक्त नहीं होते हैं, अपनी मातृभूमि की सेवा से विमुख होकर स्वार्थ परायणता में लग कर देश द्रोह करते हैं वे वास्तव में जघन्य कोटि के मनुष्य हैं उनकी दुर्गति होती है। श्रीरामचन्द्र जी ने स्वर्ग से भी अधिक जन्मभूमि को बताया है। इन्हीं बातों को लक्ष्य करके मन्त्र में देश भक्ति का रहस्य मन्त्र द्रष्टा ने प्रकट किया है। बच्चे को गर्भ में धारण करने वाली माता दस मास के बाद बच्चे को अपने पेट से बाहर कर देती है उस समय उसे पृथिवी माता ही आश्रय देती है। द्विपद चतुष्पद आदि जन्तु पृथिवी माता का आश्रय लेकर ही बड़े होते हैं। अन्न आदि भोज्य पदार्थ पृथिवी से ही वृद्धि पाकर मनुष्य के उपयोगी होते हैं। पाँच प्रकार के मनुष्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद इन्हें पञ्चजन कहते हैं। पंचजन शब्द से इनका संगठन की ओर संकेत किया गया है। गन्धर्व, पितर, देवता, असुर और राक्षस ये भी पंचजन कहे जाते हैं ये दैवी पंचजन हैं जिनके सङ्गठन से संसार का सामुदायिक कार्य चल रहा है। सूक्ष्म एवं स्थूल पृथिवी को ये दोनों पंचजन चला रहे हैं। पञ्चजन का अर्थ पञ्चायत द्वारा आपसी मतभेदों का निर्णय करने वाला भी होता है जिससे अनेक प्रकार का मतभेद राज्य द्वारा न करके आपस में ही तय कर लिया जाता है। यह संगठन भी बहुत ही

उपयोगी है। इस प्रथा से पृथिवी का कार्य सुचारु रूप से चलता रहता है। सङ्गठन के पुष्ट रहने से भिन्न संस्कृति के लोग भी आक्रमण करने में हिचकते एवं डरते रहते हैं। विश्व का सारा कार्य सङ्गठन द्वारा ही चल रहा है और उन्हें ही सूर्य अपनी किरणों द्वारा प्रकाश प्रदान करता है। सूर्य भी अनेक प्रकाश करने वाली किरणों का समुदाय ही है। यह सङ्गठन की ज्योति नित्य उदय होकर सारे जगत को प्रकाश दे रही है। वेद के अनेक मन्त्रों में सूर्य की उपासना का विधान किया गया है जिनसे अनेक प्रकार की व्याधियाँ दूर होती हैं। परमात्मा की सगुण उपासना भी सूर्य रूप से की जाती है जिसे सूर्यनारायण के नाम से बताया गया है जिससे ज्योति रूप अमृत तत्त्व की प्राप्ति होती है।

—:०:—

(१०१)

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा
भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेमहि
देवहितं यदायुः॥
(य० २५-२१)

शब्दार्थः—हे देवो हम अपने कानों से कल्याणकारी वचनों को सुनें। हे यजन करने वालों की रक्षा करने वाले अपने नेत्रों से भद्र कल्याणकारी दृश्यों को देखें

स्थिर अङ्गों द्वारा हम आप सब की स्तुति करते रहें, हमारे आयु के दिन हम देवहित में लगाते रहें।

व्याख्या

एक बार असुरों एवं देवताओं में युद्ध का अवसर उपस्थित हुआ। देवताओं ने कान में रहे हुये तत्त्व के प्रतिपादक सामगान को असुरों के पराभव के लिये किया परन्तु इसे असुरों ने अशुद्ध कर दिया। इसलिये कान से शुभ एवं अशुभ दोनों ही सुने जाते हैं। इसी प्रकार नेत्र को अशुद्ध करने से शुभा-शुभ दोनों ही देखे जाते हैं इसी प्रकार सभी इन्द्रियों के व्यवहार समझने चाहिये। शुभाशुभ का योग होने से पाप पुण्य इनके दोनों फल प्राप्त होते हैं। प्रतिकूल वेदनीय होने से कोई भी दुःख को नहीं चाहता सभी उससे छुटकारा चाहते हैं इसलिये देवताओं से प्रार्थना रूप आशंसा की गई है। इन्द्रियों के व्यवहार देवताओं द्वारा ही होते हैं। देवता परमात्मा की व्यवहार चलाने वाली शक्ति को कहते हैं अतः प्रार्थना करना सङ्गत है। परमात्मा निर्गुण निराकार रूप वाला है सृष्टि का कार्य उसकी पराशक्ति द्वारा संचालित होता है। देवता शक्ति विशेष रूप वाले हैं। कान के देवता दिशा रूप वाले हैं, नेत्र का देवता सूर्य और नासिका के देव अश्विनीकुमार, हाथ का देव पवन और पाँव का देवता विष्णु पायु, उपस्थ के देव यम और प्रजापति हैं। इन सभी देवताओं का सङ्गठन शरीर एवं विश्व के संचालन में अपेक्षित है।

असुर भाव की निवृत्ति के लिये इन देवताओं से प्रार्थना है कि हम कान एवं नेत्र तथा सभी इन्द्रियों द्वारा 'भद्र' कल्याण कारी बातों को सुनें तथा नेत्र से शोभनीय वस्तुओं को ही देखें। अज्ञानवश अशोभनीय दृश्य एवं अश्रवणीय वस्तुओं में भी मनुष्य कभी कभी प्रवृत हो जाता है जिसका परिणाम अन्त में बुरा होता है। ये सब देवताओं की प्रार्थना से दूर हो जाते हैं। शरीर के सर्वाङ्ग यदि सुदृढ़ न हों तो उनमें दुर्बलता आ जाती है जिससे जीवनोपयोगी तथा देवकार्य सुचारू रूप से नहीं होते हैं। वलिष्ठ एवं सङ्गठित रूप ही उनका कार्य सम्पादक है। असदाचरण से शरीर के अङ्ग प्रत्यङ्ग निर्बल हो जाते हैं। देवोपासना से मनुष्य असदाचार से निवृत्त होकर पुष्ट अङ्ग वाला होता है? देवहित में हमारी आयु व्यतीत हो अर्थात् सार्वजनिक कार्य करते हुये निष्काम कर्मयोग के अनुष्ठाता हम बनें। जगत के सभी कार्य देवताओं द्वारा संचालित हैं। यह पहले कई बार बता दिया गया है। निष्काम कर्म करने से देवकार्य में सहायता होने से यह भी देवकार्य है। इससे देवताओं की प्रसन्नता होने से मनुष्य श्रेय का भागी बनता है। यह शांतिपाठ का मन्त्र है। उपनिषद् के पाठारम्भ में गुरु शिष्य मिलकर इस मन्त्र का पाठ करते हैं।

—

[१०२]

आब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्म वर्चसी जायतामा राष्ट्रे-
राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम्।
(यजु० २२-२२-१)

शब्दार्थ—हे ब्रह्मन परमात्मन् हमारे राष्ट्र में ब्राह्मण ब्रह्मतेज वाले हों और राजन्य क्षत्रिय शूरवीर हों तथा वाण विद्या के प्रयोग में निपुण हों और राष्ट्र विरोधी शत्रुओं को अस्त्रों से बेधने वाले हों। हजारों वीरों के साथ रथ द्वारा युद्ध करने वाले हमारे वीर हों।

व्याख्या

ज्ञान और क्रिया इन दोनों शक्तियों का आधार लेकर ब्रह्म एवं क्षत्र इन दोनों प्रकार के मनुष्यों का आविर्भाव हुआ है। इन दोनों के योग पर ही राष्ट्र का उत्थान निर्भर है। जिस देश में ज्ञानी लोग निर्बल होते हैं वहां की राज्य व्यवस्था अस्त व्यस्त रहती है। एवं राज्य शक्ति की निर्बलता से राज्य कार्य में त्रुटि होने पर भिन्न संस्कृति के लोग उस देश पर आक्रमण करके वहाँ की शिक्षा को बिगाड़ कर ज्ञान शक्ति को नष्ट-भ्रष्ट करके उस राष्ट्र के पतन के हेतु होकर अधोमुख की ओर ले जाते हैं। इसी रहस्य को यह मन्त्र बताता है। इस कण्डिका में तीन मन्त्र हैं जिन्हें तीन रूप में विभाग करके लिखा जायगा। इस मन्त्र में एक राष्ट्र की उन्नति के लिए जितनी बातें आवश्यक हैं उन्हें मन्त्र द्रष्टा ने

संक्षेप रूप में बता दिया है। इसे सभी वैदिकों को मनन करना चाहिए तथा इसके आचरण करने का वातावरण बनाना चाहिए। "शस्त्रेण रक्षिते राष्ट्रे शास्त्र चिन्ता प्रवर्तते" राजन्य शक्ति द्वारा राष्ट्र की रक्षा होने पर ही शास्त्र चिन्ता प्रवृत होती है। उक्त मन्त्र में जो विषय कहा गया है इस उक्ति में उसका सार बता दिया गया है, ज्ञान एवं बल जब ये दोनों उन्नत होते हैं तब राष्ट्रोन्नति के सभी अंग समुन्नत होते हैं। ज्ञान के रक्षण करने वालों को ब्राह्मण संज्ञा दी गई है ब्राह्मणत्व की रक्षा और ब्राह्मणत्व जाग्रत रखने के लिये सदाचार की विस्तृत परम्परा धर्म शास्त्रों में बताई गई है। इसी प्रकार राजन्य धर्म को भी विशद रूप में गिनाया गया है। इसके पालन से ही दोनों का विकास होगा इन दोनों शक्तियों को मिलकर चलना चाहिये। इनके विघटन पर राष्ट्र का पतन अवश्य है। सृष्टि के आरम्भ से ही इन दोनों का यथार्थ रूप में भारत में व्यवहार होता रहा है। परन्तु आलस्य प्रमाद के वशीभूत होकर इन दोनों में परस्पर वैमत्य का उदाहरण भी भारतीय इतिहास में मिलता है। वशिष्ठ विश्वामित्र का झगड़ा, जमदग्नि हैहयवंशीय क्षत्रियों की लड़ाई, भगवान परशुराम का क्षत्रियों का विनाश, दक्ष प्रजापति का यज्ञ अनुष्ठान ब्रह्म क्षत्र के विवाद में बताये गये हैं। इन्हीं झगड़ों से देश की राष्ट्रीय भावना के विनाशोन्मुख होने के उदाहरण मिलते हैं। मन्त्र में जो अर्थ बताया गया है उससे यह विपरीत ही है। ब्रह्म एवं क्षत्र दोनों ही स्वतन्त्र शक्ति हैं कोई किसी के अधीन नहीं है। परन्तु अज्ञानवश क्षत्र

शक्ति सम्पन्न लोग अभिमानवश ब्रह्म शक्ति का तिरस्कार करने पतनोन्मुख हो गए। इस प्रकार भारत की राज्य व्यवस्था एवं ज्ञान व्यवस्था दोनों ही अधःपतन को प्राप्त हो गईं। इसीलिए प्रार्थना द्वारा दोनों शक्तियों के स्वरूप का निर्देश मन्त्रदृष्टा ने यथार्थरूप में बताया है कि हमारे देश में ब्राह्मण ब्रह्म वर्चस वाले हों। तपश्चर्या के द्वारा, वेदाध्ययन वैदिक कर्मकाण्ड यज्ञ स्वाध्याय के अनुष्ठान द्वारा ब्रह्म तेज की प्राप्ति होती है जिससे सत्य बुद्धि की प्राप्ति होती हैं। उसके द्वारा ही राष्ट्र की ज्ञान शक्ति की उन्नति होती है। इसी प्रकार राज्य-शक्ति के अधिकारी को अपने राष्ट्र पर आक्रमण करने वालों को युद्ध में परास्त कर देश की रक्षा में सदैव तत्पर रहना चाहिए। अस्त्र-शस्त्र विद्या में सदैव निपुणता का सम्पादन करते रहना चाहिये। व्यर्थ के अहिंसावाद एवं शान्तिवाद का आश्रय लेना कायरता है कायरता से वीर धर्म का ह्रास होता है। इसलिए ब्रह्मशक्ति एवं राजन्यशक्ति का सम्मिलित रूप में उत्थान ही राष्ट्र के सौभाग्य का हेतु है।

---

(१०३)

दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्ध्रिर्योषा जिष्णु रथेष्ठा सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम् ।

यजु० (२२-२२-२)

शब्दार्थः—हमारी गायें दुग्धादि से पूर्ण हों, भारवहन करने वाले वृषभ बैल हों, तीव्र गति वाले घोड़े, गृहकार्य को सुचारू रूप से चलाने वाली स्त्री, रथ सवार युद्ध में विजयशील हों। राष्ट्र के जवान सभ्य एवं वीर हों।

व्याख्या

राष्ट्र का एक प्रधान धन गाय है जिसके द्वारा सभी प्रकार की उन्नति होती है। गाय के दुग्ध में बल पुष्टि की मात्रा बहुत अधिक है। जिस राष्ट्र में गाय की सेवा होती है वहां सभी प्रकार की सम्पन्नता होती है गौ का वध एक बहुत ही निकृष्ट कर्म है। जिससे लोक परलोक दोनों ही नष्ट होते हैं। इसलिये दोग्ध्री शब्द से गौ के पालन का उपदेश दिया गया है जिससे राष्ट्र सम्पन्न हो। भार वहन करने वाले वृषभ हों। भारतवर्ष कृषि प्रधान देश है। यह कार्य वृषभ (अनड्वान) के द्वारा ही सम्पन्न हो सकता है। यन्त्रादि भी कृषि के साधन आजकल बन गये हैं तथापि अन्नादि में यन्त्र द्वारा कृषि कार्य में कुछ विशिष्ट गुणों का अभाव ही रहता है। यात्रा के साधन में तीव्र गति वाले घोड़ों का विशेष उपयोग

प्राचीन समय में होता था। परन्तु इस समय में यात्रा कार्य रेल बस मोटर आदि द्वारा हो रहा है। समय के फेर से घोड़ों का उपयोग अब नहीं सा ही है। प्राचीनकाल में युद्ध क्षेत्र में घोड़ों का विशिष्ट स्थान था। गृह कार्य में निपुण स्त्रियों का होना भी राष्ट्रोन्नति का मुख्य साधन है। व्यवहारिक जीवन में स्त्री का प्रमुख स्थान है। प्राचीन समय में अनेक स्त्रियां हो गई हैं जिनका आदर्श ग्रहण किया जाता है। सती अनुसूया सावित्री आदि ब्रह्मवेत्ताओं के समान भी बहुत सी स्त्रियां ब्रह्म विद्या की परम्परा में हो गई हैं। मैत्रेयी, गार्गी, सुलभा आदि का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है। अर्वाचीन काल में तथा वर्तमान समय में भी इनका स्थान रिक्त नहीं है। वैदिक धर्म की प्राचीन परम्परा को पुरुषों से कहीं अधिक मात्रा में स्त्रियों ने ही धारण कर रक्खा है। वर्तमान वैदेशिक शिक्षा से अवश्य ही इस समय बहुत बड़ा परिवर्तन स्त्रियों में भी देखा जा रहा है जो कि अवश्य हानिकर है। वैदिक परम्परा में ही स्त्री जाति का वास्तविक कल्याण निहित है। संसार में युद्ध की परम्परा भी बहुत प्राचीनकाल से चली आ रही है। बहुत से लोगों ने इसे बन्द करने का प्रयत्न किया परन्तु इस विषय में उन्हें सफलता नहीं प्राप्त हो सकी है। और आगे भी सफल होने की आशा नहीं है। क्योंकि युद्ध एक अनिवार्य वस्तु है इसलिये शत्रुओं को जीतने को इच्छा वाला रथ सवार होना चाहिये। देश के जवानों को सभेय अर्थात् सभा कार्य में निपुण एवं सभ्य होने को कहा गया है। सुशिक्षित सभ्य बनना एवं सभ्यता का व्यवहार सभा में करना चाहिये।

विदेशी शिक्षा के प्रभाव से यह बात हमारे देश से उठती जा रही है। उच्छृङ्खलता उद्दण्डता बढ़ती जा रही है। शिक्षा-विदों को इस ओर ध्यान देना चाहिये। विदेशी शिक्षा के त्याग बिना यह असम्भव है। राज सभाओं में भी इसका दुष्परिणाम देखा जा रहा है। यह एक बड़े दुर्भाग्य का विषय है। देश की रक्षा के लिए जवानों को वीर धर्म का पालन करना चाहिये। जो गति योगी महात्माओं को प्राप्त होती है वही गति देश एवं धर्म के लिए प्राणोत्सर्ग करने वाले वीरों को भी मिलती है। ये सारी उक्त वस्तुयें राष्ट्रीय यजमान को प्राप्त हों। यही ईश्वरीय आशीर्वाद राष्ट्रीय याज्ञिक द्वारा प्राप्त होता है।

---

(१०४)

निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योग क्षेमो नः कल्पताम्।

(यजु २२-२२-३)

शब्दार्थः—कृषि कार्य के लिये तथा अन्य जलोपयोगी कार्यों के लिये हमारे देश में मेघ की वर्षा होती रहे। हमारी ओषधियों का परिपाक ठीक रीति से हो। योग क्षेम की कल्पना सुचारु रूपवाली हो।

व्याख्या

इस पार्थिव सृष्टि के पहले सब जगह जल ही जल भरा हुआ था। जगदीश्वर की इच्छा से सर्व प्रथम पृथिवी के ऊँचे

स्थान पर्वत विन्ध्य हिमालय आदि बाहर आये उन पर औषधि, लता, गुल्म, अन्न गोधूम, जौ आदि उत्पन्न हुये। इसके पश्चात् एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय वाले जीवों का आविर्भाव हुआ। विन्ध्य हिमालय की मध्य भूमि समतल के रूप में प्रकट हुई। इसी में सर्व प्रथम चारों वर्ण वाली आर्य जाति प्रकट हुई। ईश्वर की यह सर्व प्रथम सृष्टि कहलाई। सभ्यता एवं ज्ञान की पूर्णता का विकास सर्व प्रथम होने से भारत जगद्गुरु कहलाया। यहीं के विद्वानों ने सर्व प्रथम सारे जगत को सभ्यता का ज्ञान कराया। सभी प्राणियों को कल्याण मार्ग बताने के लिये यहां के ऋषियों ने याज्ञिक प्रथा को प्रवृत्त किया। वेद मन्त्रों के द्वारा इस याज्ञिक क्रिया का सम्पादन किया जाता था। वेद के ब्राह्मण भाग के द्वारा इस तत्व की व्याख्या करके इसकी पूर्णता की गयी। इस तत्व की व्याख्या श्रीमद्भगवत् गीता में इस प्रकार बताई गई है—"अन्न द्वारा प्राणियों की स्थिति होती है और पर्जन्य द्वारा अन्न होता है, यज्ञ से पर्जन्य होते हैं और यज्ञ वेद बोधित कर्म द्वारा सम्पन्न होते हैं। यज्ञानुष्ठान से मनुष्य जब चाहे तब मेघ द्वारा वृष्टि कर सकता है। इसी तत्व को मन्त्र में बताया गया है। मेघ की वृष्टि द्वारा धन धान्य की समृद्धि होती है। ठीक वृष्टि न होने से अकाल होता है जिससे अन्न की उत्पत्ति न होने से प्रजा पोड़ित होती है। यज्ञीय धूम ही सुवृष्टि का कारण है। कुत्सित धूयें रेल कारखानों द्वारा जो देश में इस समय व्याप्त हो रहे हैं, वृष्टि के निरोधक एवं अनेक रोग व्याधि के कारण हैं। श्री

रामचन्द्र जी के राज्य में कभी भी अकाल नहीं पड़ता था। मन्त्र के इसी अंश का अनुवाद श्री तुलसीदास ने किया है— 'मागें वारिद देहिं जल, रामचन्द्र के राज' अन्नादि औषधियाँ जो मनुष्य जीवन की रक्षा करती हैं वे ठीक रीति से उत्पन्न हों और निर्दोष फल देने वाली हों जिनके उपयोग से स्वास्थ्य की वृद्धि मनुष्यों की होती है। वृष्टि दोषयुत होने से औषधियों में विकार पैदा होता है जिनके सेवन से अनेक रोग व्याधि पैदा होती हैं जिनसे जन संहार होता है। सर्व प्रकार की समृद्धि होने से ही राष्ट्र की उन्नति होती है। अन्तिम वाक्य में योग क्षेम की रक्षा बताई गई है। अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति को योग बताया गया है एवं प्राप्त का रक्षण क्षेम है। ये दोनों प्रकार राष्ट्र की समृद्धि के हेतु हैं। इस प्रकार इस कण्डिका के तीनों भागों द्वारा राष्ट्र की उन्नति के सभी रहस्य बता दिये गये हैं। राष्ट्र भक्तों को इस पर चलना चाहिये। तभी सच्ची राष्ट्रभक्ति का फल मिल सकेगा।

—:o:—

[१०५]

द्यौः शान्तिरन्तरिक्ष ँ शान्तिः पृथिवी,
शान्तिरापः शान्ति रोषधयः शान्तिः।
वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म,
शान्तिः सर्व ँ शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः—
सा मा शान्तिरेधि ॥
(यजु० अ. ३६–१७)

शब्दार्थ—द्यौ लोक शान्त हो, अन्तरिक्ष भी शान्त हो, पृथिवी शान्त हो, जल शान्त हो, औषधि वनस्पति सभी देव शान्त हों, वेदत्रयी अथवा परब्रह्म शान्त हों; वह स्वरूप वाली शान्ति भी शान्त हो और हमें वह शान्ति प्राप्त हो।

व्याख्या

क्रिया का अधिकार जब तक चलता रहता है तब तक मनुष्य व्यस्त एवं व्यग्र रहता है। इस अवस्था में एकाग्रता न होने से शान्ति उससे दूर रहती है। बिना शान्ति के जीवन अधूरा है। इसीलिए गीता में कहा गया है–उच्च पद पर आरूढ़ होने के लिए कर्मयोग की आवश्यकता है और कर्म मार्ग पर आरूढ़ होने पर शम या शांति को कारणता है। शांति आनंद या सुख को व्यक्त करती है अतः सभी को इसकी आवश्यकता है क्योंकि सभी शान्ति को चाहते हैं—'अशान्तस्य कुतः सुखम्' मन्त्र में जड़ चेतन सम्बन्धी दोनों प्रकार की शान्ति कही गई है, क्योंकि मनुष्य को सभी प्रकार की शान्ति की आवश्यकता है। इसके सम्पन्न होने पर ही पूर्ण सुख की प्राप्ति होती है। द्यौ प्रकाशपूर्ण वह लोक है जहाँ सूर्य का उदय होता है। अन्तरिक्ष लोक वह है जहाँ नक्षत्रों का प्रकाश होता है। पृथिवी लोक जिस पर हम सब चलते-फिरते हैं और जीवनोपयोगी सभी कार्य का जो सम्पादक है। इन तीनों लोकों से हमें शान्ति मिले। दैविक तथा भौतिक अशान्ति से हमें जो अनेक प्रकार की अशान्ति होती है। उसका निराकरण होकर पूर्ण शान्ति मिले। फल पाक होने

पर जिनका अन्त हो जाता है उन्हें औषधि कहते हैं गेहूँ, जौ, चना आदि वृक्ष लता गुल्मादि को वनस्पति कहते हैं ये सब शान्त हों तथा अपने गुणों के द्वारा हमें पुष्टि, निरोग, स्वास्थ्य प्रदान करके शान्ति सुख के प्रदाता हों। जगत्सञ्चालन करने वाली परमात्मा की शक्तियों को देव संज्ञा दी गई है। उनके द्वारा भी शान्ति प्राप्त हो अथवा—'विद्वांसो वै देवाः' के अनुसार विद्वानों को भी देव कहते हैं। उनके सदुपदेशों से भी हमें शान्ति प्राप्त हो। ब्रह्म नाम वेद का है वैदिक शान्ति देने वाले सूक्त या मन्त्रों में जो अर्थ बताये गये हैं। वे हमें प्राप्त हों। ब्रह्म परमात्मा को भी कहते हैं। वह कृपा करके अपनी शान्ति हमें प्रदान करे। सर्व को यह शान्ति प्राप्त हो जो शान्ति अपने शान्ति स्वरूप से रहती है वह शान्ति हमें प्राप्त हो।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

श्री १००८ श्री स्वामीजी कृत अन्य रचनायें

१. श्री बगलामुखी रहस्यम्	४–५०
२. पञ्चोपनिषद् (प्रकाश भाष्य)	२–२५
३. सौन्दर्य लहरी (डिण्डिम टीका)	२–२५
४. घेरण्ड संहिता (भाषानुवाद)	२–००
५. नारदीय शिक्षा (संस्कृत टीका)	१–५०
६. पुरश्चरण पद्धतिः	१–५०
७. ईश्वर गीता (हिन्दी टीका)	१–५०
८. प्रत्यभिज्ञा हृदयम् (हिन्दी अनुवाद)	१–५०
९. शिव सूत्रं भक्ति सूत्रञ्च	०–५०
१०. वेदान्त प्रबोध (सानुवाद)	२–००
११. वैदिक उपदेश (प्रथम भाग)	१–२५
१२. अथर्व वेदाङ्ग ज्योतिष	१–००
१३. सौन्दर्य लहरी (हिन्दी पद्यानुवाद सहित)	१–००

श्री पीताम्बरा पीठ संस्कृत परिषद्

(दतिया म. प्र.)